पढ़ें और बढ़ें शृंखला

रिश्तों की खिड़कियाँ

भाग-2

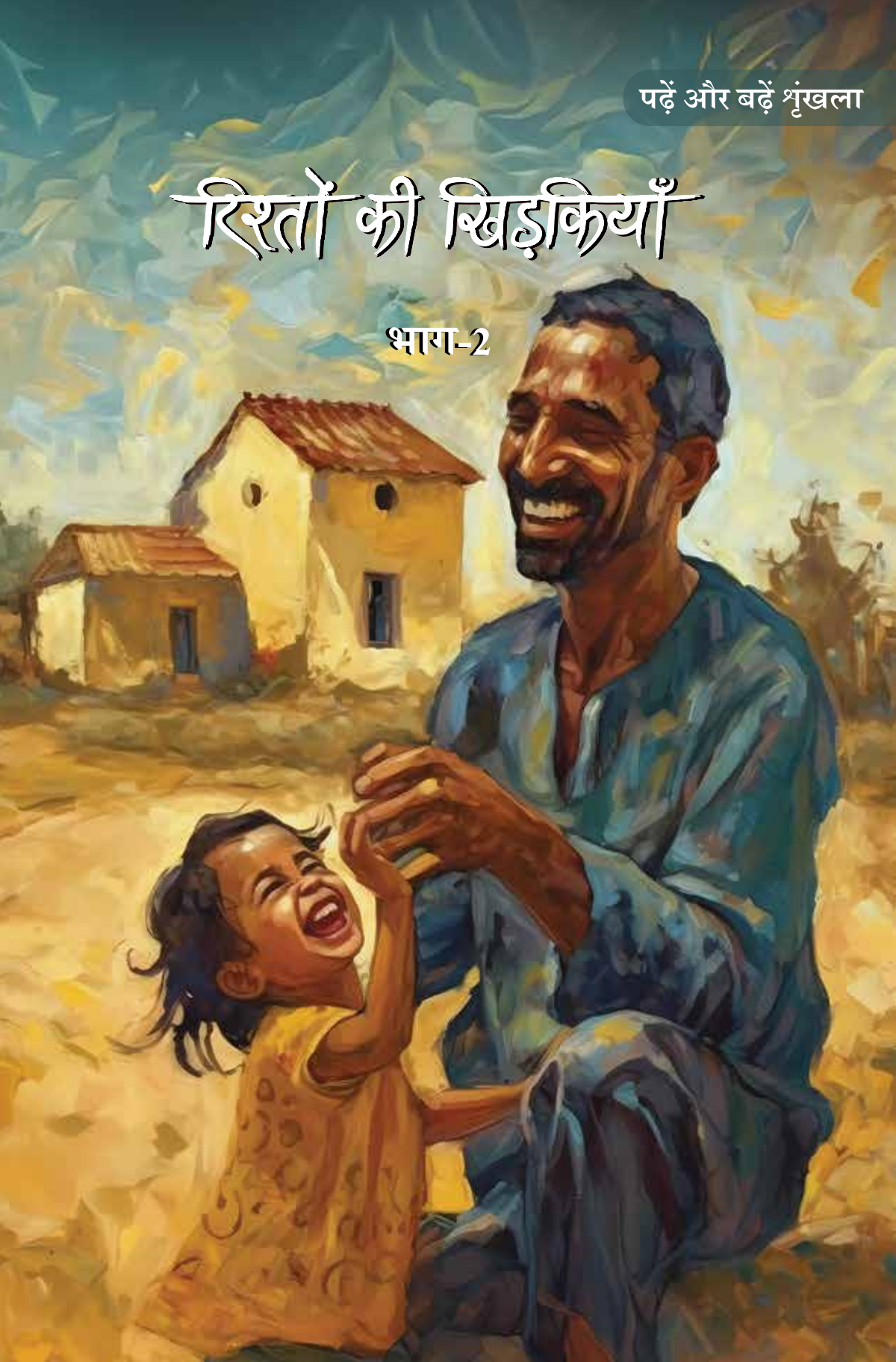

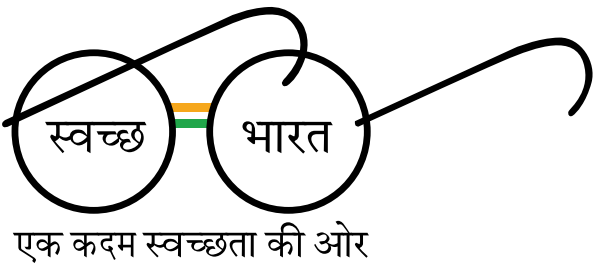
स्वच्छ
भारत
एक कदम स्वच्छता की ओर

पढ़ें और बढ़ें शृंखला

रिश्तों की खिड़कियाँ

भाग-2

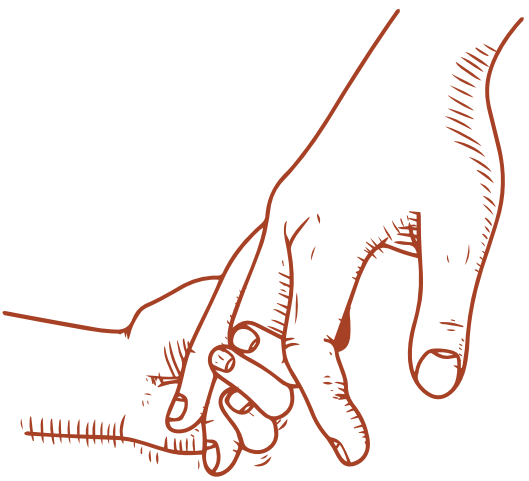

विद्यया ऽ मृतमश्नुते
एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

21191— रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग-2

ISBN 978-93-5292-866-8

प्रथम संस्करण

जुलाई 2024 आषाढ़ 1946

PD 3T BS

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2024

₹ 110.00

80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110016 से प्रकाशित तथा गीता ऑफसेट प्रिंटर्स प्रा. लि., सी–90 एवं सी–86, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज–I, नई दिल्ली 110020 द्वारा मुद्रित।

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फ़ोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रचारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशन की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन. सी. ई. आर. टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फ़ोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III इस्टेज
बेंगलुरु 560 085 फ़ोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फ़ोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट धनकल बस स्टॉप पिनहटी
कोलकाता 700 114 फ़ोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगाँव
गुवाहाटी 781021 फ़ोन : 0361-2676869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग : *अनूप कुमार राजपूत*

मुख्य उत्पादन अधिकारी : *अरुण चितकारा*

मुख्य संपादक (प्रभारी) : *बिज्ञान सुतार*

मुख्य व्यापार प्रबंधक : *अमिताभ कुमार*

सहायक उत्पादन अधिकारी : *ओम प्रकाश*

आवरण एवं चित्रांकन

श्वेता राव

आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद समय-समय पर विद्यार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ अतिरिक्त पाठ्यसामग्री का प्रकाशन करती है। विद्यार्थियों के पास कुछ ऐसे विकल्प भी उपलब्ध होने चाहिए, जो पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त हों। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में पठनसामग्री की उपलब्धता पर विशेष बल दिया गया है। इसे ध्यान में रखकर माध्यमिक स्तर के हिंदी विद्यार्थियों के लिए 'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला की योजना बनाई गई। इसी योजना के तहत माध्यमिक स्तर के हिंदी विद्यार्थियों के लिए 'रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग-2' नामक पुस्तक को तैयार किया गया है। इस पुस्तक में पिता पर केंद्रित कहानियों और कविताओं का संचयन किया गया है। आशा है, यह पुस्तक विद्यार्थियों में पढ़ने की संस्कृति विकसित करेगी तथा अध्यापकों सहित अन्य पाठकों को आकृष्ट करेगी।

पुस्तक की सामग्री-चयन और समीक्षा के लिए आयोजित कार्यशालाओं में उपस्थित होकर जिन विषय विशेषज्ञों तथा अनुभवी अध्यापकों ने अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा पुस्तक को उपयोगी बनाने में सहयोग किया है, परिषद उनके प्रति आभार व्यक्त करती है। यह पुस्तक परिषद के भाषा शिक्षा विभाग के हिंदी संकाय सदस्यों द्वारा किया गया एक सराहनीय प्रयास है।

निश्चय ही, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों का विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। अत: पुस्तक को और उपयोगी बनाने के लिए विद्यार्थियों, अध्यापकों और विशेषज्ञों के सुझावों का स्वागत है।

दिनेश प्रसाद सकलानी
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

नई दिल्ली
नवंबर 2023

यह पुस्तक...

सभ्यता के आरंभ में मनुष्य ने सबसे पहला रिश्ता प्रकृति से कायम किया और धीरे-धीरे संपूर्ण सृष्टि के साथ अपने रिश्तों का निर्वाह करते हुए मानवीय रिश्तों का सृजन किया। ये रिश्ते समय के प्रवाह में धीरे-धीरे ही विकसित हुए हैं। समाज में रिश्तों की पहचान भिन्न-भिन्न नामों से होती रही है। आज ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें रिश्ते न हों। मनुष्य-मनुष्य के बीच अपनी भावनात्मक ज़रूरतों और परिस्थिति के अनुसार निर्मित इन रिश्तों की संवेदनाएँ बदलती रही हैं। हमारा सामाजिक जीवन वस्तुत: इन रिश्तों पर ही निर्भर है और उसे आज भी अर्थपूर्ण बनाए हुए है।

'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला के अंतर्गत 'रिश्तों की खिड़कियाँ' (चार भागों में) पुस्तकों का निर्माण किया गया है। शृंखला के इस भाग-2 में पिता केंद्रित रचनाएँ संग्रहित की गई हैं। वहीं भाग-1 में माँ केंद्रित रचनाएँ, भाग-3 में पशु-पक्षियों पर केंद्रित रचनाएँ और भाग-4 में अन्य रिश्तों पर केंद्रित रचनाएँ सम्मिलित हैं। इसका उद्देश्य किशोर वय के पाठकों को रिश्तों की अहमियत और रिश्तों की बदलती संवेदना से सिर्फ़ परिचित कराना ही नहीं, बल्कि यह बताना भी है कि रिश्ते कभी जड़ या ठोस नहीं होते, वे असीम भावनाओं से भरे होते हैं और इनमें विभिन्न सामाजिक परिवेश और परिस्थितयों के अनुकूल जीवन व्यवहार को समझने की गहरी अंतर्दृष्टि होती है। सामाजिक परिवेश और परिस्थितियों के अनुकूल जीवन-व्यवहार को समझने की गहरी अंतर्दृष्टि होती है।

'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला की इस कड़ी में पिता से संबंधित रचनाएँ हैं। मनुष्य के जीवन में जिन दो लोगों से सबसे पहला रिश्ता जुड़ता है वे माँ और पिता ही हैं। पिता पर दुनियाभर की भाषाओं में विपुल साहित्य लिखा गया है। पिछली पीढ़ी के रचनाकारों से लेकर समकालीन लेखकों तक अनेक रचनाएँ ऐसी हैं जिनके केंद्र में पिता हैं। इस पुस्तक में किशोर वय के पाठकों के लिए पिता पर चुनी हुई कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

प्रसिद्ध कवि नागार्जुन की कविता 'गुलाबी चूड़ियाँ' में एक साधारण ट्रक ड्राइवर और उसकी मासूम बेटी के आत्मीय संबंधों का चित्र है। प्रसिद्ध कथाकार उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' और कविवर केदारनाथ सिंह की कविता 'पिता के जाने पर' में वृद्ध पिता को देखना एक करुण अनुभव की तरह है। उषा प्रियंवदा की कहानी में जीवित पिता के अप्रासंगिक और अवांछित हो जाने का त्रास प्रकट हुआ है तो केदारनाथ सिंह की कविता पिता के निधन के बाद उत्पन्न हुई रिक्ति का मार्मिक दृश्य उपस्थित करती है।

संबंधों के सहज न रह पाने का एक बड़ा कारण आधुनिक जीवनशैली की विडंबनाएँ भी हैं जिनमें धन की गहरी और निर्णायक भूमिका को समझा जा सकता है। भीष्म साहनी की कहानी 'बाप-बेटा' में छोटे अल्पायु बेटे को फ़ौज में भेज दिए जाने का प्रसंग इसी यथार्थ की उपज है। हिमांशु जोशी की कहानी 'पाषाण-गाथा' भी बेटे को दंड से बचाने के लिए खुद सज़ा काट रहे पिता की दारुण विडंबना को प्रकट करती है। स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानी 'पिता का समय' में पिता की नए दौर में बदल रही पारिवारिक सामाजिक छवि का प्रभावशाली चित्रण किया हैं।

गद्य रचनाओं की विशेषता यह होती है कि वे पात्रों और चरित्रों की छवियाँ विवरणों में प्रस्तुत करती हैं; वहीं कविताएँ हमारी संवेदनाओं और अनुभवों का विस्तार अपने सघन बिंबों से करती हैं। नागार्जुन, उदय प्रकाश, नवल शुक्ल और नीलेश रघुवंशी की कविताएँ भारतीय पिता की भिन्न-भिन्न छवियाँ गढ़ती हैं जिन्हें कविता में आए बिंब अर्थवान बनाते हैं।

इन रचनाओं में पिता के कई रूप दिखाई देते हैं। कहीं पिता की पारंपरिक छवि है तो कहीं पीढ़ियों का द्वंद्व पिता को विचलित करता है। कुछ रचनाओं में आर्थिक संकट से त्रस्त पिता आए हैं। संतानों के प्रति आकुल पिता की अनेक छवियों के साथ ही बदलते समय में आज़ाद ख्याल पिता के भी अनेक रूप हैं।

उम्मीद है कि हमारे पाठक इन रचनाओं को पढ़कर इनका मर्म समझेंगे तथा भारतीय समाज में रिश्तों की गहराई और व्यापकता का उचित आशय ग्रहण कर सकेंगे।

पुस्तक में रचनाओं को रचनाकारों की वरिष्ठता के क्रम में रखने की कोशिश की गई है।

आपके सुझावों का स्वागत है।

संध्या सिंह

प्रोफेसर एवं *विभागाध्यक्ष*

भाषा शिक्षा विभाग

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

पुस्तक निर्माण समिति

सदस्य

पल्लव, *सहायक प्रोफेसर*, हिंदू कॉलेज, दिल्ली

प्रमोद कुमार तिवारी, *सहायक प्रोफेसर*, गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर, गुजरात

प्रेम कुमार तिवारी, *एसोसिएट प्रोफेसर*, दयाल सिंह कॉलेज, नई दिल्ली

श्याम सिंह सुशील, हिंदी लेखक, ए-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली

समन्वयक

संध्या सिंह, *प्रोफेसर* एवं *विभागाध्यक्ष*, भाषा शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली

आभार

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (रा.शै.अ.प्र.प.) रचनाकारों, उनके परिजनों, संस्थानों/ प्रकाशकों के प्रति आभारी है जिन्होंने अपनी रचनाओं को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

पुस्तक निर्माण संबंधी कार्यों में तकनीकी सहयोग एवं अन्य प्रकार के सहयोग के लिए परिषद हिरण्य हिमकर, *सहायक प्रोफेसर*, रामानुजन कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय; चंदन कुमार, *जे.पी.एफ.*; आशीष कुमार, *जे.पी.एफ.*; पारमिता राहा, *जे.पी.एफ.*; बजरंग बली कहाँर, *जे.पी.एफ.*; अमजद हुसैन, *ग्राफिक डिजाइनर*; और रेखा, *डी.टी.पी.ऑपरेटर*; श्वेता राव, *आर्टिस्ट* के प्रति आभारी है।

परिषद, पुस्तक को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने के लिए प्रकाशन प्रभाग के सदस्यों दिनेश वशिष्ट, *संपादक* (संविदा); सुरेन्द्र कुमार, *प्रभारी,* डी.टी.पी. प्रकोष्ठ; गंधर्व, *डी.टी.पी. ऑपरेटर* (संविदा); और सगीर अहमद, *डी.टी.पी. ऑपरेटर* (संविदा) रा.शै.अ.प्र.प. के प्रति भी आभार व्यक्त करती है।

विषय-सूची

	आमुख		*iii*
	यह पुस्तक		*v*
1.	गुलाबी चूड़ियाँ	नागार्जुन	1
2.	बाप-बेटा	भीष्म साहनी	4
3.	वापसी	उषा प्रियंवदा	13
4.	पिता के जाने पर	केदारनाथ सिंह	25
5.	पाषाण-गाथा	हिमांशु जोशी	29
6.	एक का पहाड़ा	सुभाष पंत	39
7.	बूढ़े अपना ज़िक्र नहीं करते	लीलाधर जगूड़ी	57
8.	बेटी की विदाई	राजेश जोशी	60
9.	पिताजी का समय	स्वयं प्रकाश	64
10.	पिता	उदय प्रकाश	75
11.	पिता और उनके पिता	नवल शुक्ल	79
12.	यात्रा करते पिता	नीलेश रघुवंशी	82
	लेखकों के बारे में		85

मिल-जुल कर स्कूल में जाएँ, साथ पढ़ें और
साथ में खाएँ। रंग-बिरंगी प्यारी दुनिया,
साथ मिलकर इसे सजाएँ।

गुलाबी चूड़ियाँ

— नागार्जुन

नन्ही कलाइयों की 'गुलाबी चूड़ियाँ' कविता एक ड्राइवर पिता के नेह और कोमलता का आख्यान रचती है। कठोर काम करने वाले और अधेड़ उम्र के मुच्छड़ रोबीले चेहरे वाले व्यक्ति के भीतर से चूड़ियों के जिक्र मात्र से जो तरलता छलकती है वह इस साधारण-सी दिखती कविता को विशेष बना देती है। नन्ही कलाइयों की गुलाबी चूड़ियाँ केवल ड्राइवर पिता को ही नहीं प्रत्येक पाठक को दुधिया वात्सल्य से भर देती हैं। सात साल की बच्ची की चूड़ियाँ कुछ देर के लिए पिता को कैसे नेह से भिगो देती होंगी और कठोर श्रम की थकान को मिटाने में कैसा सहयोग देती होंगी इसका भी अहसास कविता पढ़ने से होता है।

प्राइवेट बस का ड्राइवर है तो क्या हुआ
सात साल की बच्ची का पिता तो है!
सामने गियर से ऊपर
हुक से लटका रक्खी हैं
काँच की चार चूड़ियाँ गुलाबी
बस की रफ़्तार के मुताबिक
हिलती रहती हैं...
झुककर मैंने पूछ लिया
खा गया मानो झटका

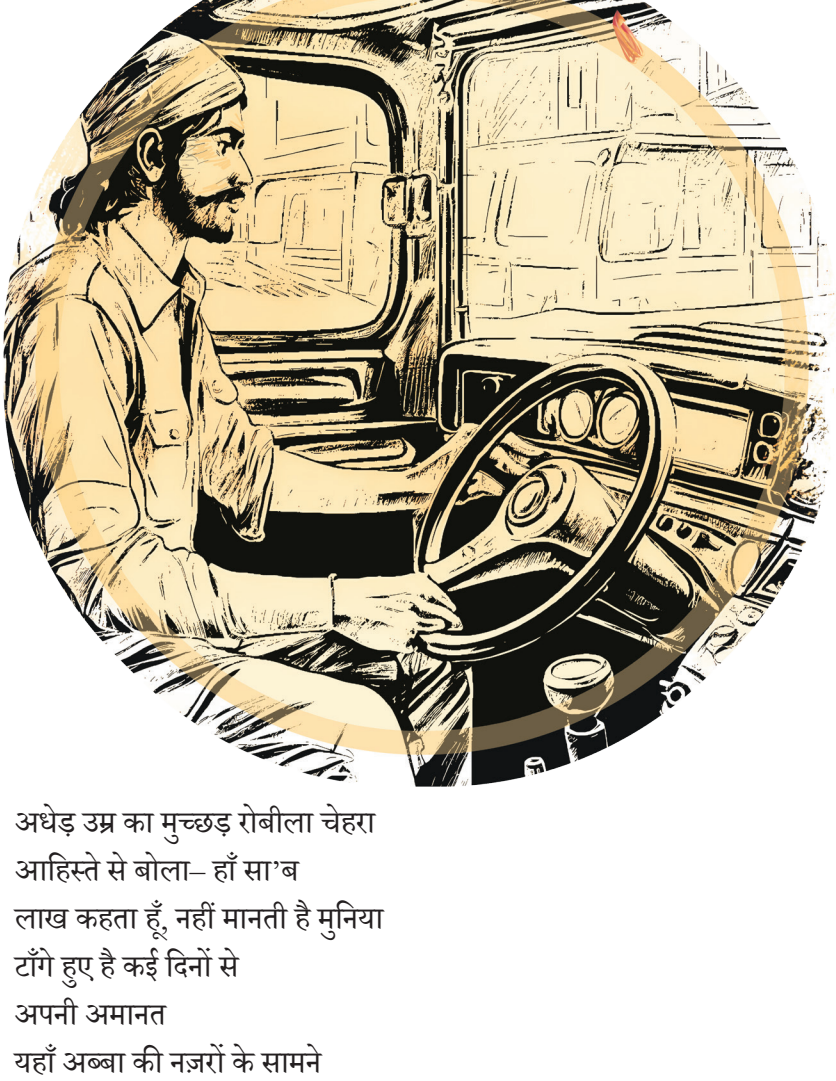

अधेड़ उम्र का मुच्छड़ रोबीला चेहरा
आहिस्ते से बोला– हाँ सा'ब
लाख कहता हूँ, नहीं मानती है मुनिया
टाँगे हुए है कई दिनों से
अपनी अमानत
यहाँ अब्बा की नज़रों के सामने
मैं भी सोचता हूँ
क्या बिगाड़ती हैं चूड़ियाँ
किस ज़ुर्म पे हटा दूँ इनको यहाँ से?
और ड्राइवर ने एक नज़र मुझे देखा
और मैंने एक नज़र उसे देखा

छलक रहा था दूधिया वात्सल्य बड़ी-बड़ी आँखों में
तरलता हावी थी सीधे-सादे प्रश्न पर
और अब वे निगाहें फिर से हो गईं सड़क की ओर
और मैंने झुककर कहा–
और भाई, मैं भी पिता हूँ
वो तो बस यूँ ही पूछ लिया आपसे
वर्ना ये किसको नहीं भाएँगी?
नन्ही कलाइयों की गुलाबी चूड़ियाँ!

संवाद

1. मुनिया ने अपने पिता की बस में अपनी चूड़ियाँ क्यों टाँगी होंगी?
   क. पिता के प्रति अपने स्नेह भाव दिखाने के लिए।
   ख. बस की सजावट में अपना योगदान देने के लिए।
   ग. हर बार उसी तरह की चूड़ियाँ पाने के लिए।
   घ. अपनी उपस्थिति दर्शाने के लिए।
2. पिता के प्रति अपना प्रेम भाव दर्शाने के लिए आप क्या-क्या करते हैं?

बाप-बेटा

— भीष्म साहनी

भीष्म साहनी की कहानी 'बाप-बेटा' एक पिता की बेबसी और निरीहता को बताती है। वह अपने इकलौते बेटे से बहुत प्यार करता है परंतु गरीबी से इस हद तक मजबूर है कि नाबालिग बेटे को अधिक आयु लिखवाकर सेना में भर्ती करवाता है। बच्चे की माँ रो रही है, वह बच्चे के भावी जीवन की कठोरता और अघटित की आशंका से डरी हुई है लेकिन उसके पास कोई विकल्प नहीं है। बहुत धीरे-से यह कहानी कह जाती है कि सिर्फ़ प्रेम से ज़िंदगी नहीं चलती।

एक फ़ौजी बैरक की दीवार के बाहर एक अधेड़ उम्र का आदमी खड़ा झरोखों में से बार-बार अंदर झाँक रहा था। उसके दोनों हाथ घबराहट में कभी दीवार को पकड़ते, कभी एक-दूसरे में बँध जाते, कभी उसकी मुट्ठियाँ खुलतीं, कभी बंद होतीं। सिर पर एक मैली-सी टोपी पहने, बदन पर घुटनों तक लंबा खाकी कोट लटकाए और एक जगह-जगह पैबंद लगा पाजामा पहने, वह बार-बार अंदर देखे जा रहा था और उसकी उत्कंठा क्षण-प्रतिक्षण अधीर हो रही थी।

दीवार के पीछे बैरक के मैदान में दस-बारह नवयस्यक लड़कों की एक पाँत खड़ी थी, सबके बदन नंगे, केवल एक जाँघिया पहने हुए और उनके सामने दो फ़ौजी अफ़सर खड़े उनकी परीक्षा ले रहे थे। एक अफ़सर के हाथ में एक छोटा-सा बेंत था और दूसरे के हाथ में एक लंबी-सी किताब, जिसमें वह बार-बार कुछ लिख रहा था। ढलती दोपहरी के साए लंबे पड़ चुके थे और मैदान के आधे भाग पर छाँह आ

चुकी थी। दीवार के बाहर बड़े गेट के पास जहाँ यह आदमी खड़ा था, एक वृहदाकार फ़ौजी सिपाही की तस्वीर थी जो हाथ में बंदूक उठाए, छाती ताने खड़ा था और जिसके नीचे लिखा था– देश की सेवा के लिए देश की फ़ौज में भर्ती हो जाओ। दीवार के बाहर जगह-जगह इक्के-दुक्के लोग किसी-किसी वक्त आकर रुकते, पल-घड़ी तमाशा देखते और अपनी राह चले जाते। केवल यही व्यक्ति बड़ी देर से रुका हुआ था।

इतने में एक बूढ़ा आदमी जो गेट के पास किसी वक्त आ खड़ा हुआ था, चलता हुआ इस आदमी के पास आया और थोड़ी देर तक अंदर झाँकते रहने के बाद बोला–

"बेटे को लाए हो?"

आदमी ने मुड़कर देखा और फिर मुँह फेरते हुए बोला,

"हाँ।"

"कौन-सा लड़का है तेरा?"

"वह जो नुक्कड़ में खड़ा है।"

"जीता रहे, बड़ा खूबसूरत लड़का है। किस गाँव से आए हो?"

"नूरपुर से।"

"कितने बेटे हैं तेरे?"

"एक यही बेटा है। तुम भी भर्ती करवाने आए हो।"

"नहीं, मैं पिंशन के पैसे लेने आया हूँ। उसका दफ़्तर इधर पीछे है।"

"पिंशन? क्या तुम फ़ौज में थे?"

"नहीं, मेरा बेटा फ़ौज में था।"

"अब फ़ौज में नहीं?"

बूढ़े ने धीरे से जवाब दिया,

"नहीं।"

दोनों फिर अंदर झाँकने लगे।

कुछ देर बाद अफ़सर उस नुक्कड़वाले लड़के के सामने आ खड़े हुए और उसका इम्तहान लेने लगे। लड़का सचमुच खूबसूरत था। गौरा-चिट्टा बदन, माँसल गुदगुदे

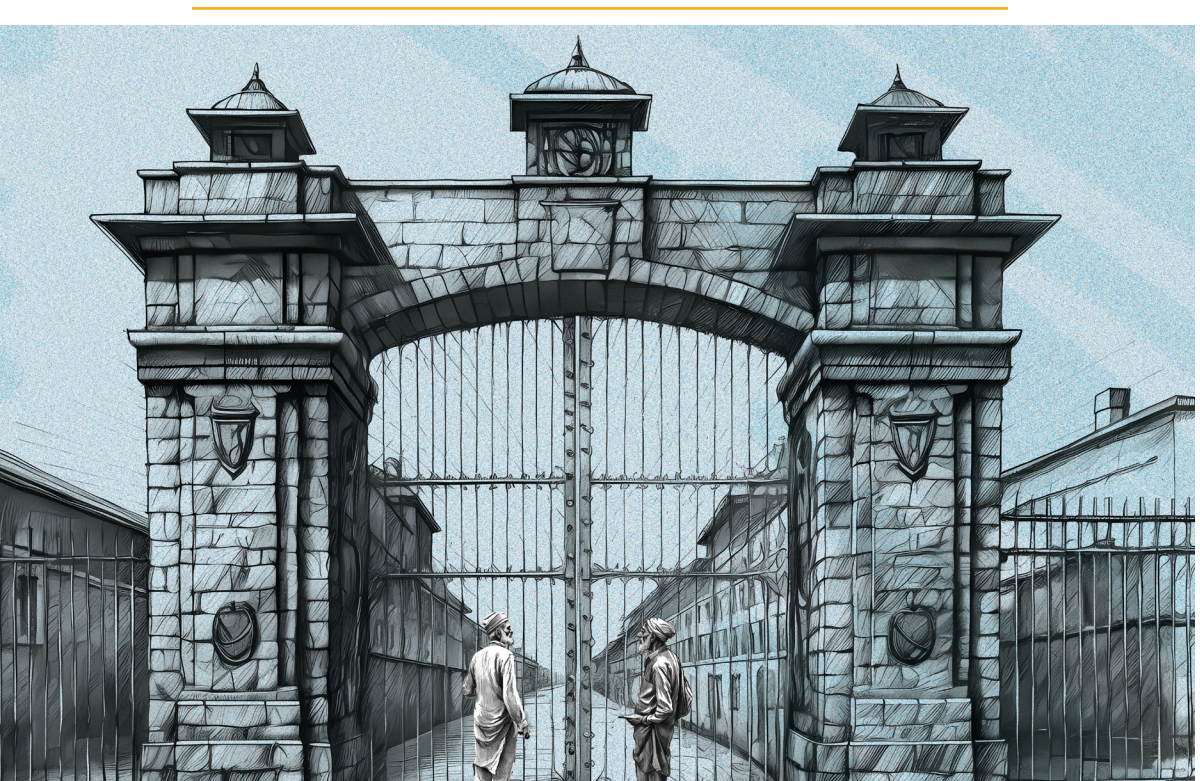

पट्ठे, बाजरे के सिट्टे की तरह बढ़ता कद, सारे शरीर पर लड़कपन की चिकनाहट और कांति, वह विस्मित और आदरपूर्ण नेत्रों से फ़ौजी अफ़सरों को देखे जा रहा था।

एक फ़ौजी अफ़सर ने बेंत से लड़के के घुटनों को ठकोरा। लड़के ने दोनों पाँव जोड़ लिए, छाती फैला ली और गर्दन ऊँची करके खड़ा हो गया। फिर अफ़सर ने बेंत को बगल में दबा लिया और अपने दोनों हाथों से उसका शरीर टटोलने लगा, कभी छाती थपथपाता, कभी उसके पट्ठों को दबा-दबाकर देखता, कभी उसके कंधों को हिलाता-डुलाता। बाहर खड़े बाप की टाँगें लड़खड़ा रही थीं। उसके हाथ कभी खुलते, कभी बंद होते, मानो वह भी बेटे के मुलायम चिकने शरीर का स्पर्श कर रहा हो।

थोड़ी देर बाद परीक्षा समाप्त हुई, और सब लड़के एक ढेरी पर से अपने-अपने कपड़े उठा बैरक के पीछे चले गए। जाने से पहले नुक्कड़वाला लड़का बार-बार

दीवार की ओर देखता रहा, उसकी आँखें अपने बाप की ढूँढ़ती हुई दीवार का चक्कर काटने लगीं, मगर बाप को न पाकर फिर कपड़ों की ओर लौट गईं। छिद्रों में से देखते हुए बाप का गला रुँध गया और वह दीवार पर से हटकर ज़मीन पर बैठ गया।

शाम हो चुकी थी। सड़क के पास एक विशालकाय वृक्ष पर परिंदे लौटने लगे थे, और छावनी पर सायंकाल की निस्तब्धता छाने लगी थी। केवल किसी-किसी वक्त कहीं से फ़ौजी बिगुल की आवाज़ आ जाती। बाप, बेटे के इंतज़ार में एक-एक पल गिनने लगा।

सूर्य छिप चुका था और अँधेरा गहरा होने लगा था। जब दीवार के पीछे से फिर आवाज़ें आने लगीं और लड़के बाहर निकलने लगे। बाप दौड़कर गेट के पास जा पहुँचा। ज्यों ही उसका बेटा आया बाप ने आगे बढ़कर उसका हाथ थाम लिया और तेज़ी से पेड़ के नीचे ले गया।

"क्या हुआ रसिए, क्या हुआ?"

"सबको ले लिया है।" बेटे ने थकी हुई आवाज़ में जवाब दिया।

"तुझे भी ले लिया है?"

"हाँ।"

बाप की सारी घबराहट एक ही वाक्य में जैसे पसीज उठी। उसका गला भर आया, और वह अपने बेटे को बार-बार छाती से लगाने लगा। वह कभी अपने दोनों हाथों से बेटे का मुँह पकड़कर उसे बार-बार देखता, कभी उसे छाती से लगाता, कभी उसकी पीठ पर हाथ फेरता। बेटा थका हुआ था। उसकी आँखें बोझिल और अलसाई हुई, चेहरा तपे हुए ताँबे की तरह लाल हो रहा था और पसीने से तर था।

दोनों पेड़ के नीचे जा बैठे। जब बाप की उत्तेजना कुछ शांत हुई तो बोला,

"तुम से क्या पूछा था, रसिए?"

"बहुत सवाल पूछे थे?"

"उम्र का पूछा था?"

"हाँ।"

"तो तूने क्या कहा?" बाप ने घबराकर पूछा।

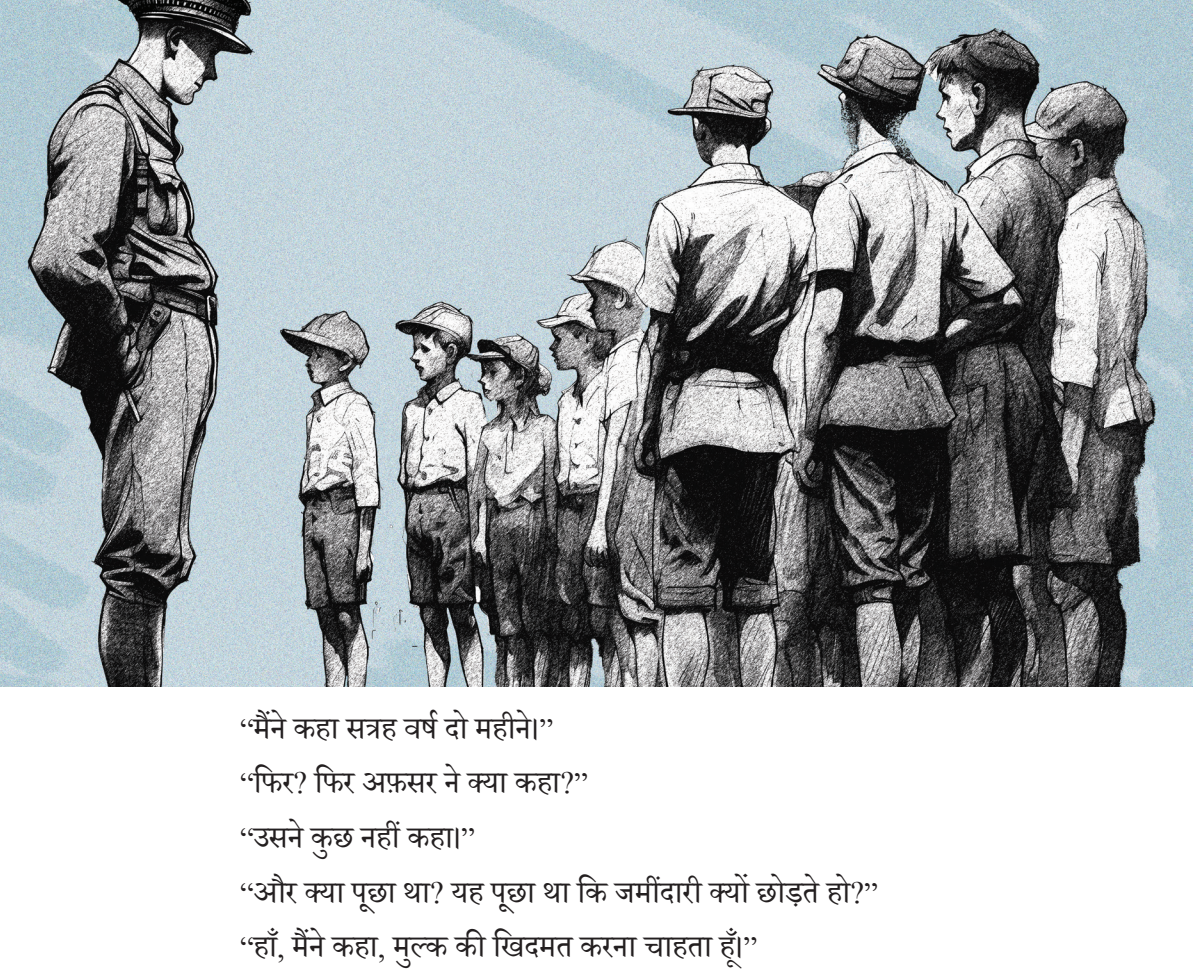

"मैंने कहा सत्रह वर्ष दो महीने।"

"फिर? फिर अफ़सर ने क्या कहा?"

"उसने कुछ नहीं कहा।"

"और क्या पूछा था? यह पूछा था कि जमींदारी क्यों छोड़ते हो?"

"हाँ, मैंने कहा, मुल्क की खिदमत करना चाहता हूँ।"

"और क्या कहा?"

"और कि मेरा ताऊ फ़ौज में रसालदार था।"

"फिर? अफ़सर ने क्या कहा?"

"कुछ नहीं कहा।"

बेटा मुस्कुराया। बाप ने निश्चिंतता की ठंडी साँस ली। धीरे-धीरे बेटे की जबान खुलने लगी। नए अनुभव की उत्तेजना में वह शुरू से आखिर तक की सारी वार्ता

सुनाने लगा। और बाप की आँखों में गहरी ममता और भावुकता छलक आई, बेटे के हाथ को अपने हाथों में लिए वह उसका एक-एक शब्द सुनता रहा और सिर हिलाता रहा। उसकी नसों का तनाव ढीला पड़ गया और बेटे को देखते हुए बार-बार आँखें भर आने लगीं।

"बरदी पहनकर तो तू रोठा जवान नज़र आएगा, रसिए।" बाप ने आँसू छिपाने की चेष्टा करते हुए हँसकर कहा।

"जब छुट्टी पर आएगा तो तेरी मूँछें होगी।" बाप ने कहकर मुँह फेर लिया।

"मुझे कब छुट्टी मिलेगी?"

"मैं नहीं जानता। शायद दो बरस के बाद। तब तो तू मुझ से भी लंबा हो जाएगा।"

इसके बाद बाप सहसा चुप हो गया और उसका चेहरा धीरे-धीरे गंभीर होने लगा। अँधेरा बढ़ने लगा था। जिस पेड़ के नीचे वह बैठे थे, उस पर असंख्य पक्षी लौट रहे थे। शाखों पर परों के फड़फड़ाने, पक्षियों के चहकने और फुदकने-कूदने की आवाज़ें आ रही थीं। पेड़ की विशाल ओट में दिनभर के बिछुड़े हुए पक्षी अपने परिवारों से मिल-मिलकर सुख से चहक रहे थे।

गहरी, धीमी आवाज़ में बाप ने कहा,

"रसिए।"

"हाँ बापू।"

"जो तलब मिले वह सारी की सारी पंडित दुकानवाले को भेज देना।"

"उसे क्यों भेज दूँ, बापू?"

"उसी को भेज देना, समझे?"

"अच्छा बापू।"

बाप का चेहरा फिर चिंतित और कठोर हो उठा, माथे पर की नसें फिर उभर आईं। भर्राई हुई आवाज़ में बोला,

"जो नहीं भेजी तो बहुत नुकसान होगा। ज़मीन कुर्क हो जाएगी।"

"कुर्क हो जाएगी?"

बेटा हैरान हुआ, पर इस वाक्य का पूरा अर्थ न समझकर फिर चुप हो गया। और सिर हिलाकर बोला–

"हाँ बापू।"

"बस सिर्फ़ छह महीने की मोहलत बाकी है। अगर उसे वक्त में पैसे नहीं मिले तो ज़मीन छिन जाएगी।"

बेटा उद्‌भ्रांत नज़रों से बाप के मुँह की ओर देखने लगा।

"डाक वाले बाबू को पता बतला देना। वह चार-छह आने पैसे लेकर हर महीने तेरा काम कर देगा। पंडित का नाम-पता मालूम है?"

"हाँ बापू, सियाराम, पंडित सियाराम, मौजा नूरपुर, थाना नूरपुर, ज़िला काँगड़ा।"

इस विस्तारपूर्ण पते पर बाप के चेहरे पर एक गर्व की क्षीण-सी रेखा दौड़ गई। फिर दोनों चुप हो गए। बेटा बाप के चेहरे की ओर देखता रहा, जैसे कोई बात बार-बार उसके मुँह को आती हो और उसे कह न सकता हो। आखिर बाप ने पूछा,

"क्या है रसिए?"

"बापू?"

"क्यों बेटा?"

"माँ खफ़ा तो नहीं होगी?"

"नहीं, क्यों?"

"जब मैं आया तो वह बहुत रोती थी। माँ कहती थी मेरी उम्र सोलह साल की है। तुम बोलते हो सत्रह वर्ष दो महीने की है।"

इस प्रश्न पर बाप की देह फिर काँप उठी, मगर वह जल्दी ही सँभल गया। अँधेरे में बैठे हुए बाप और बेटा एक-दूसरे के चेहरे की ओर देखते हुए, एक-दूसरे के विचार पढ़ने की चेष्टा करने लगे, फिर बाप ने बेटे के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा–

"माँ गलत कहती है। तेरी उम्र सत्रह वर्ष दो महीने की है। सावन महीने में तू पैदा हुआ था। पुरोहित की पत्री में भी यही लिखा है।"

बेटा चुपचाप बाप के मुँह की ओर देखता रहा।

"फ़ौज में किसी को सोलह वर्ष की नहीं कहना, नहीं तो फ़ौज में से निकाल देंगे। बड़ा अनर्थ हो जाएगा।"

"नहीं बापू, नहीं कहूँगा।"

छावनी में जगह-जगह बत्तियाँ जल उठी थीं, और अँधेरा गहरा हो रहा था। सड़कें सुनसान पड़ गई थीं। केवल भर्ती के दफ़्तर के सामने, दीवार से थोड़ा हटकर, एक सिपाही कंधे पर बंदूक उठाए, इधर से उधर और उधर से इधर पहरा दे रहा था। इतने में कहीं से बिगुल बजने की आवाज़ आई। लड़का झट से उठ बैठा–

"यह सात बजे की बिगुल है। अब मैं जाऊँगा।"

"कहाँ जाएगा रसिए?" बाप ने शिथिल टूटती हुई आवाज़ में पूछा।

"इसी बैरक के पीछे। वहाँ पर हाज़री होगी। कल मुझे मेरी छावनी में भेजेंगे।"

दोनों बाप-बेटा उठ खड़े हुए। बेटे ने बाप के पाँव छुए, बाप ने बेटे को छाती से लगाया। फिर बेटे के कंधे पर हाथ रख के बोला,

"फ़ौज में सबके साथ भाई-भाई की तरह रहना। सच बोलना, सच सदाकत को नहीं छोड़ना, सुना रसिए? और अफ़सर का हुक्म मानना, जो कहे सो करना। और रसिए... पंडित को पैसे हर महीने भेजते रहना, भुलना नहीं।"

"नहीं भूलूँगा बापू।"

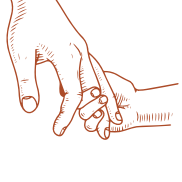

बेटे ने फिर पालागन किया, और मुड़कर बैरक की ओर जाने लगा और देखते ही देखते उसका छरहरा चंचल शरीर अँधेरे में ओझल हो गया। भर्ती के दफ़्तर पर मौन नि:स्तब्धता छाई हुई थी। केवल वृक्ष पर परिंदे अब भी पुनर्मिलन के गीत गा रहे थे। गेट के पास सिपाही की तस्वीर अपनी धुँधली रेखा में बंदूक थामे, छाती ताने, अब भी देश-सेवा का निमंत्रण दे रही थी। और बैरक के बाहर सिपाही बंदूक कंधे पर उठाए यंत्र की भाँति अब भी पहरा दिए जा रहा था।

संवाद

1. क्या आपने किसी कम आयु के बच्चे को कोई नौकरी करते देखा है। हाँ, तो आपको कैसा लगा? उसे नौकरी न करनी पड़े, इसके लिए आपके पास कोई सुझाव है?
2. रसिए के पिता ने झूठ क्यों बोला?

वापसी

— उषा प्रियंवदा

'वापसी' हिंदी की चर्चित कहानी है। जीवन की बदलती परिस्थितियों में अपने लोग कैसे बदल जाते हैं या गैरज़रूरी हो जाते हैं वह इस कहानी में नज़र आता है। पिता गजाधर बाबू के लिए अपने ही घर में जगह नहीं है। पैंतीस साल की नौकरी के बाद घर लौटने में जिस सुख का उन्होंने स्वप्न देखा था उसकी वास्तविकता बहुत कड़वी निकली। सबसे अधिक उन्हें पत्नी के व्यवहार का बदल जाना खलता है। गजाधर बाबू को यह लगना कि वह धनोपार्जन के निमित्त मात्र हैं या कि वह ज़िंदगी द्वारा ठगे गए हैं। बदलते समय की सूचना देता है।

गजाधर बाबू ने कमरे में जमा सामान पर एक नज़र दौड़ाई— दो बक्से, डोलची, बाल्टी– "यह डिब्बा कैसा है, गनेशी?" उन्होंने पूछा। गनेशी बिस्तर बाँधता हुआ, कुछ गर्व, कुछ लज्जा से बोला, "घरवाली ने साथ को कुछ बेसन के लड्डू रख दिए हैं। कहा, बाबूजी को पसंद थे, अब कहाँ हम गरीब लोग आपकी कुछ खातिर कर पाएँगे!" घर जाने की खुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया, जैसे एक परिचित स्नेही, आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।

"कभी-कभी हम लोगों की भी खबर लेते रहिएगा।" गनेशी बिस्तर में रस्सी बाँधता हुआ बोला।

"कभी कुछ ज़रूरत हो तो लिखना गनेशी! इस अगहन तक बिटिया की शादी कर दो।"

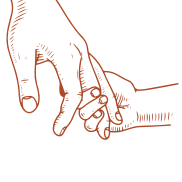

गनेशी ने अँगोछे के छोर से आँखें पोंछीं, "अब आप लोग सहारा न देंगे तो कौन देगा? आप यहाँ रहते तो शादी में कुछ हौसला रहता।"

गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेलवे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने ही वर्ष बिताए थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था। आँगन में रोपे पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गए थे और जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया।

गजाधर बाबू खुश थे, बहुत खुश। पैंतीस साल की नौकरी के बाद वह रिटायर होकर जा रहे थे। इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रहकर काटा था। उन अकेले क्षणों में उन्होंने इसी समय की कल्पना की थी, जब वह अपने परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे। संसार की दृष्टि में उनका जीवन सफल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में एक मकान बनवा लिया था, बड़े लड़के अमर और लड़की कांति की शादियाँ कर दी थीं, दो बच्चे ऊँची कक्षाओं में पढ़ रहे थे। गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशन पर रहे, और उनके बच्चे और पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हँसते-हँसते बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते– उनके सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठा। खाली क्षणों में उनसे घर में टिका न जाता। कवि प्रकृति के न होने पर भी उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद रहतीं। दोपहर में गर्मी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाए रहतीं और उनके स्टेशन से वापस आने पर गरम-गरम रोटियाँ सेंकतीं। उनके खा चुकने और मना करने पर भी थोड़ा-सा कुछ और थाली में परोस देतीं और बड़े प्यार से आग्रह करतीं। जब वह थके-हारे बाहर से आते तो उनकी आहट पा वह रसोई के द्वार पर निकल आतीं और उसकी सलज्ज आँखें मुस्करा उठतीं। गजाधर बाबू को तब हर छोटी बात भी याद आती और वह उदास हो उठते अब कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था, जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

टोपी उतारकर गजाधर बाबू ने चारपाई पर रख दी, जूते खोलकर नीचे खिसका दिए, अंदर से रह-रहकर कहकहों की आवाज़ आ रही थी। इतवार का दिन था और

उनके सब बच्चे इकट्ठे होकर नाश्ता कर रहे थे। गजाधर बाबू के सूखे चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान आ गई। उसी तरह मुस्कुराते हुए, वह बिना खाँसे अंदर चले आए। उन्होंने देखा कि नरेंद्र कमर पर हाथ रखे शायद गत रात्रि की फ़िल्म में देखे गए किसी नृत्य की नकल कर रहा था और बसंती हँस-हँसकर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आँचल या घूँघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त रूप से हँस रही थी। गजाधर बाबू को देखते ही नरेंद्र धप से बैठ गया और चाय का प्याला उठाकर मुँह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढक लिया, केवल बसंती का शरीर रह-रहकर हँसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा।

गजाधर बाबू ने मुस्कुराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, "क्यों नरेंद्र, क्या नकल हो रही है?"

"कुछ नहीं बाबूजी।" नरेंद्र ने सिटपिटाकर कहा।

गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुंठित हो चुप हो गए, उससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आई।

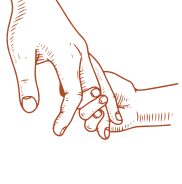

बैठते हुए बोले, "बसंती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्माँ की पूजा अभी चल रही है क्या?"

बसंती ने माँ की कोठरी की ओर देखा, "अभी आती ही होंगी" और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गई थी, अब नरेंद्र भी चाय का आखिरी घूँट पीकर उठ खड़ा हुआ, केवल बसंती, पिता के लिहाज़ में, चौके में बैठी माँ की राह देखने लगी। गजाधर बाबू ने एक घूँट चाय पी, फिर कहा, "बिट्टी, चाय तो फीकी है।"

"लाइए, चीनी और डाल दूँ।" बसंती बोली।

"रहने दो, तुम्हारी अम्माँ जब आएँगी, तभी पी लूँगा।"

थोड़ी देर में उनकी पत्नी हाथ में अर्घ्य का लोटा लिए निकलीं और अशुद्ध स्तुति कहते हुए तुलसी में डाल दिया। उन्हें देखते ही बसन्ती भी उठ गई। पत्नी ने आकर गजाधर बाबू को देखा और कहा, "अरे, आप अकेले बैठे हैं, यह सब कहाँ गए?" गजाधर बाबू के मन में फाँस-सी करक उठी, "अपने-अपने काम में लग गए हैं, आखिर बच्चे ही हैं।"

पत्नी आकर चौके में बैठ गई, उन्होंने नाक-भौं चढ़ाकर चारों ओर जूठे बर्तनों को देखा। फिर कहा, "सारे में जूठे बर्तन पड़े हैं। इस घर में धरम-करम कुछ नहीं। पूजा करके सीधे चौके में घुसो।" फिर उन्होंने नौकर को पुकारा, जब उत्तर न मिला तो एक बार और उच्च स्वर में, फिर पति की ओर देखकर बोलीं, "बहू ने भेजा होगा बाज़ार।" और एक लंबी साँस लेकर चुप हो रहीं।

गजाधर बाबू बैठकर चाय और नाश्ते का इंतज़ार करते रहे। उन्हें अचानक ही गनेशी की याद आ गई। रोज़ सुबह, पैसेंजर आने से पहले वह गरम-गरम पूरियाँ और जलेबी बनाता था। गजाधर बाबू जब तक उठकर तैयार होते थे, उनके लिए जलेबियाँ और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया, काँच के गिलास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुँचे, गनेशी ने चाय पहुँचाने मे कभी देर नहीं की। क्या मजाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े।

पत्नी का शिकायत-भरा स्वर सुन उनके विचारों में व्याघात पहुँचा। वह कह रही थी, "सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इस गृहस्थी का धंधा पीटते-पीटते उमर बीत गई। कोई ज़रा हाथ भी नहीं बँटाता।"

"बहू क्या किया करती है?" गजाधर बाबू ने पूछा।

"पड़ी रहती है। बसंती को तो फिर कहो कॉलेज जाना होता है।"

गजाधर बाबू ने जोश में आकर बसंती को आवाज़ दी। बसंती भाभी के कमरे से निकली तो गजाधर बाबू ने कहा, "बसंती, आज से शाम का खाना बनाने की ज़िम्मेवारी तुम पर है। सुबह का भोजन तुम्हारी भाभी बनाएँगी।"

बसंती मुँह लटकाकर बोली, "बाबूजी पढ़ना भी तो होता है।"

गजाधर बाबू ने बड़े प्यार से सुझाया, "तुम सवेरे पढ़ लिया करो। तुम्हारी माँ बूढ़ी हुई, उनके शरीर में अब वह शक्ति नहीं बची है। तुम हो, तुम्हारी भाभी है, दोनों को मिलकर काम में हाथ बँटाना चाहिए।"

बसंती चुप रह गई। उसके जाने के बाद उसकी माँ ने धीरे से कहा, "पढ़ने का तो बहाना है। कभी जी नहीं लगता। लगे कैसे? शीला से ही फुरसत नहीं, बड़े-बड़े लड़के हैं उस घर में, हर वक्त वहाँ घुसा रहना, मुझे अच्छा नहीं सुहाता। मना करूँ तो सुनती नहीं।"

नाश्ता कर गजाधर बाबू बैठक में चले गए। घर छोटा था और ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबंध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गई थी। गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े, कभी-कभी अनायास ही इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और लक्ष्य की ओर चली जातीं।

घर छोटा होने के कारण बैठक में ही अब अपना प्रबंध किया था। उनकी पत्नी के पास अंदर एक छोटा कमरा अवश्य था, पर उसमें एक ओर अचारों के मर्तबान, दाल, चावल के कनस्तर और घी के डिब्बे से घिरा था, दूसरी ओर पुरानी रजाइयाँ

दरियों में लिपटी रस्सी से बँधी रखी थीं, उसके पास एक बड़े से टीन के बक्से में घर-भर के गरम कपड़े थे। बीच में एक अलगनी बँधी हुई थी, जिस पर प्रायः बसंती के कपड़े लापरवाही से पड़े रहते थे। वह भरसक उस कमरे में नहीं जाते थे। घर का दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू के पास था, तीसरा कमरा, जो सामने की ओर था, बैठक था। गजाधर बाबू के आने से पहले उसमें अमर की ससुराल से आया बेंत की तीन कुर्सियों का सेट पड़ा था, कुर्सियों पर नीली गद्दियाँ और बहू के हाथों के कढ़े कुशन थे।

जब कभी उनकी पत्नी को कोई शिकायत करनी होती तो अपनी चटाई बैठक में डाल पड़ जाती थीं। तो वह एक दिन चटाई लेकर आ गईं। गजाधर बाबू ने घर-गृहस्थी की बातें छेड़ीं, वह घर का रवैया देख रहे थे। बहुत हल्के-से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ खर्च कम होना चाहिए।

"सभी खर्च तो वाज़िब-वाज़िब हैं, किसका पेट काटूँ? यही जोड़-गाँठ करते-करते बूढ़ी हो गई, न मन का पहना, न ओढ़ा।"

गजाधर बाबू ने आहत, विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करतीं, यह स्वाभाविक था, लेकिन उनमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खटका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबंध कैसे हो, तो उन्हें चिंता कम, संतोष अधिक होता। लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही ज़िम्मेदार थे।

"तुम्हें किस बात की कमी है अमर की माँ— घर में बहू है, लड़के-बच्चे हैं, सिर्फ़ रुपये से ही आदमी अमीर नहीं होता।" गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुभव किया, यह उनकी आंतरिक अभिव्यक्ति थी, ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकतीं। "हाँ, बड़ा सुख है न बहू से। आज रसोई करने गई है, देखो क्या होता है", कहकर पत्नी ने आँखें मूँदीं, और सो गईं। गजाधर बाबू पत्नी को देखते रह गए। यही थी क्या उनकी पत्नी जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुस्कान की याद में उन्होंने संपूर्ण जीवन काट दिया था? उन्हें लगा कि लावण्यमय युवती जीवन की राह में कहीं खो गई है और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राण के लिए नितांत अपरिचिता है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी-सा शरीर

बहुत बेडौल और कुरूप लग रहा था, चेहरा श्रीहीन और रूखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्संग दृष्टि से पत्नी को देखते रहे और फिर लेटकर छत की ओर ताकने लगे।

अंदर कुछ गिरा और उनकी पत्नी हड़बड़ाकर उठ बैठीं, "लो, बिल्ली ने कुछ गिरा दिया शायद," और वह अंदर भागीं, थोड़ी देर में लौटकर आईं तो उनका मुँह फूला हुआ था, "देखो बहू को, चौका खुला छोड़ आई, बिल्ली ने दाल की पतीली गिरा दी। सभी तो खाने को हैं, अब क्या खिलाऊँगी?" वह साँस लेने को रुकीं और बोलीं, "एक तरकारी और चार पराठे बनाने में सारा डिब्बा घी उँड़ेलकर रख दिया। ज़रा-सा दर्द नहीं है, कमाने वाला हाड़ तोड़े और यहाँ चीज़ें लुटें। मुझे तो मालूम था कि यह सब काम किसी के बस का नहीं है।"

गजाधर बाबू को लगा कि पत्नी कुछ और बोलेगी तो उनके कान झनझना उठेंगे। होंठ भींच, करवट लेकर उन्होंने पत्नी की ओर पीठ कर ली।

रात का भोजन बसंती ने जान-बूझकर ऐसा बनाया था कि कौर तक निगला न जा सके। गजाधर बाबू चुपचाप खाकर उठ गए, पर नरेंद्र थाली सरकाकर उठ खड़ा हुआ और बोला, "मैं ऐसा खाना नहीं खा सकता।"

बसंती तुनक कर बोली, "तो न खाओ, कौन तुम्हारी खुशामद करता है!"

"तुमसे खाना बनाने को कहा किसने था?" नरेंद्र चिल्लाया।

"बाबूजी ने।"

"बाबूजी को बैठे-बैठे यही सूझता है।"

बसंती को उठाकर माँ ने नरेंद्र को मनाया और अपने हाथ से कुछ बनाकर खिलाया। गजाधर बाबू ने बाद में पत्नी से कहा, "इतनी बड़ी लड़की हो गई और उसे खाना बनाने तक का शऊर नहीं आया।"

"अरे आता सब कुछ है, करना नहीं चाहती।" पत्नी ने उत्तर दिया। अगली शाम माँ को रसोई में देख, कपड़े बदलकर बसंती बाहर आई तो बैठक से गजाधर बाबू ने टोक दिया, "कहाँ जा रही हो?"

"पड़ोस में शीला के घर।" बसंती ने कहा।

"कोई ज़रूरत नहीं, अंदर जाकर पढ़ो।" गजाधर बाबू ने कड़े स्वर में कहा। कुछ देर अनिश्चित खड़े रहकर बसंती अंदर चली गई। गजाधर बाबू शाम को रोज़ टहलने

चले जाते थे, लौटकर आए तो पत्नी ने कहा, "क्या कह दिया बसंती से? शाम से मुँह लपेटे पड़ी है। खाना भी नहीं खाया।"

गजाधर बाबू खिन्न हो आए। पत्नी की बात का उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि बसंती की शादी जल्दी ही कर देनी है। उस दिन के बाद बसंती पिता से बची-बची रहने लगीं। जाना होता तो पिछवाड़े से जाती। गजाधर बाबू ने दो-एक बार पत्नी से पूछा तो उत्तर मिला, "रूठी हुई है।" गजाधर बाबू को और रोष हुआ। लड़की के इतने मिजाज! जाने को रोक दिया तो पिता से बोलेगी नहीं! फिर उनकी पत्नी ने ही सूचना दी कि अमर अलग रहने की सोच रहा है।

"क्यों?" गजाधर बाबू ने चकित होकर पूछा।

पत्नी ने साफ़-साफ़ उत्तर दिया। अमर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत थीं। उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, कोई आने-जाने वाला हो तो कहीं बैठाने को जगह नहीं। अमर को अब भी वह छोटा-सा समझते थे, और मौके-बेमौके टोक देते थे। बहू को काम करना पड़ता था और सास जब-तब फूहड़पन पर ताने देती रहती थीं। "हमारे आने से पहले भी कभी ऐसी बात हुई थी?" गजाधर बाबू ने पूछा। पत्नी ने सिर हिलाकर जताया कि नहीं। पहले अमर घर का मालिक बनकर रहता था। बहू को कोई रोक-टोक न थी। अमर के दोस्तों का प्रायः यहीं अड्डा जमा रहता था और अंदर से नाश्ता चाय तैयार होकर जाता रहता था। बसंती को भी वही अच्छा लगता था।

गजाधर बाबू ने बहुत धीरे से कहा, "अमर से कहो, जल्दबाजी की कोई ज़रूरत नहीं है।" अगले दिन वह सुबह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है। अंदर आकर पूछने वाले ही थे कि उनकी दृष्टि रसोई के अंदर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने यह कहने को मुँह खोला कि बहू कहाँ है, पर कुछ याद कर चुप हो गए। पत्नी की कोठरी में झाँका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पाई। गजाधर बाबू ने अपना कोट उतारा और कहीं टाँगने को दीवार पर नज़र दौड़ाई। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसकाकर, एक किनारे टाँग दिया। कुछ खाए बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गए। कुछ भी हो, तन आखिरकार बूढ़ा ही था। सुबह-शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते-जाते थक उठते थे। गजाधर बाबू को अपना बड़ा-सा क्वार्टर याद आ गया। निश्चित जीवन,

सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिर-परिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट-खट, जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह थी। तूफ़ान और मालगाड़ी के इंजनों की चिंघाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थी। सेठ रामजीलाल की मिल के कुछ लोग कभी-कभी पास आ बैठते, वही उनका दायरा था, वही उनके साथी। वह जीवन अब उन्हें एक खोई निधि-सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह ज़िंदगी द्वारा ठगे गए हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, उसमें से उन्हें एक बूँद भी न मिली।

लेटे हुए वह घर के अंदर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी-सी झड़प, बाल्टी पर खुले नल की आवाज़, रसोई के बरतनों की खटपट और उसी में दो गौरैयों का वार्तालाप... और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दखल न देंगे। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई की जगह यही है, तो यहीं पड़े रहेंगे। अगर कहीं और डाल दी गई तो वहाँ चले जाएँगे। यदि बच्चों के जीवन में उनके लिए कहीं स्थान नहीं, तो अपने ही घर में परदेशी की तरह पड़े रहेंगे और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ

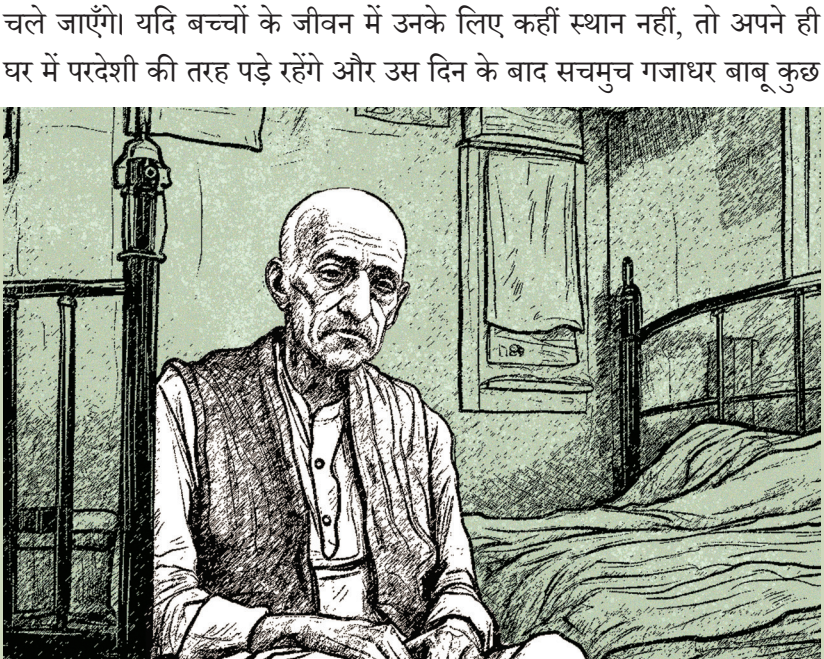

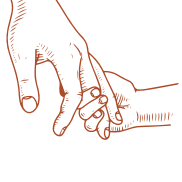

नहीं बोले। नरेंद्र रुपये माँगने आया तो बिना कारण पूछे उसे रुपये दे दिए। बसंती काफी अँधेरा हो जाने के बाद भी पड़ोस में रही तो भी उन्होंने कुछ नहीं कहा, पर उन्हें सबसे बड़ा गम यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन ही मन कितना भार ढो रहे हैं इससे वह अनजान ही बनी रहीं। बल्कि उन्हें पति के घर के मामले में हस्तक्षेप न करने के कारण शांति ही थी। कभी-कभी कह भी उठतीं, "ठीक ही है, आप बीच में न पड़ा कीजिए, बच्चे बड़े हो गए हैं, हमारा जो कर्तव्य था, कर रहे हैं। पढ़ा रहे हैं, शादी कर देंगे।"

गजाधर बाबू ने आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी और बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त मात्र हैं। जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी माँग में सिंदूर डालने की अधिकारिणी है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, उसके सामने वह दो वक्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्तव्यों से छुट्टी पा जाती है। वह घी और चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई है कि अब वही उनकी संपूर्ण दुनिया बन गई है। गजाधर बाबू उनके जीवन के केंद्र नहीं हो सकते, उन्हें तो अब उनकी शादी के लिए भी उत्साह बुझ गया। किसी बात में हस्तक्षेप न करने के लिए निश्चय के बाद भी उनका अस्तित्व उस वातावरण का एक भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गई।

इतने सब निश्चयों के बावजूद भी गजाधर बाबू एक दिन बीच में दखल दे बैठे। पत्नी स्वभावानुसार नौकर की शिकायत कर रही थी, "कितना कामचोर है, बाज़ार की हर चीज़ में पैसा बनाता है; खाने बैठता है, तो खाता ही चला जाता है।" गजाधर बाबू को बराबर यह महसूस होता रहता था कि उनके घर का रहन-सहन और खर्च उनकी हैसियत से कहीं ज़्यादा है। पत्नी की बात सुनकर लगा कि नौकर का खर्च बिल्कुल बेकार है, छोटा-मोटा काम है, घर में तीन मर्द हैं, कोई न कोई कर ही देगा। उन्होंने उसी दिन नौकर का हिसाब कर दिया। अमर दफ़्तर से आया तो नौकर को पुकारने लगा। अमर की बहू बोली, "बाबूजी ने नौकर छुड़ा दिया है।"

"क्यों?"

"कहते हैं खर्च बहुत है।"

यह वार्तालाप बहुत सीधा था, पर जिस टोन में बहू बोली, गजाधर बाबू को खटक गया। उस दिन जी भारी होने के कारण गजाधर बाबू टहलने नहीं गए थे। आलस्य में उठकर बत्ती भी नहीं जलाई थी, इस बात से बेखबर नरेंद्र माँ से कहने लगा, "अम्मा, तुम बाबूजी से कहती क्यों नहीं? बैठे-बिठाए कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर बाबूजी यह समझें कि मैं साइकिल पर गेहूँ रख आटा पिसाने जाऊँगा तो मुझसे यह नहीं होगा।"

"हाँ अम्मा", बसंती का स्वर था, "मैं कॉलेज भी जाऊँ और लौटकर घर में झाड़ू भी लगाऊँ, यह मेरे बस की बात नहीं है।"

"बूढ़े आदमी हैं", अमर कुनमुनाया, "चुपचाप पड़े रहें। हर चीज़ में दखल क्यों देते हैं?"

पत्नी ने बड़े व्यंग्य से कहा, "और कुछ नहीं सूझा, तो तुम्हारी बहू को ही चौके में भेज दिया। वह गई तो पंद्रह दिन का राशन पाँच दिन में बनाकर रख दिया।" बहू कुछ कहे, इससे पहले वह चौके में घुस गईं कुछ देर में अपनी कोठरी में आईं और बिजली जलाई तो गजाधर बाबू को लेटे देख बड़ी सिटपिटाईं। गजाधर बाबू की मुखमुद्रा से वह उनके भावों का अनुमान न लगा सकीं। वह चुप, आँखें बंद किए लेटे रहे।

गजाधर बाबू चिट्ठी हाथ में लिए अंदर आए और पत्नी को पुकारा। वह भीगे हाथ निकलीं और आँचल से पोंछती हुई पास आ खड़ी हुईं। गजाधर बाबू ने बिना किसी भूमिका के कहा, "मुझे सेठ रामजीमल की चीनी मिल में नौकरी मिल गई है। खाली बैठे रहने से तो चार पैसे घर में आएँ, वही अच्छा है। उन्होंने तो पहले ही कहा था, मैंने ही मना कर दिया था।" फिर कुछ रुककर, जैसे बुझी हुई आग में एक चिनगारी चमक उठे, उन्होंने धीमे स्वर में कहा, "मैंने सोचा था कि बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद, अवकाश पाकर परिवार के साथ रहूँगा। खैर, परसों जाना है। तुम भी चलोगी?"

"मैं?" पत्नी ने सकपकाकर कहा, "मैं चलूँगी तो यहाँ का क्या होगा? इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सियानी लड़की।"

बात बीच में काट गजाधर बाबू ने थके, हताश स्वर में कहा, "ठीक है, तुम यहीं रहो। मैंने तो ऐसे ही कहा था।" और गहरे मौन में डूब गए।

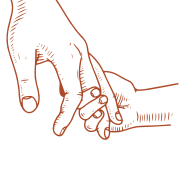

नरेंद्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बाँधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टीन का बक्सा और पतला-सा बिस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिए गजाधर बाबू रिक्शे पर बैठ गए। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली। फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अंदर लौट गए। बहू ने अमर से पूछा, "सिनेमा ले चलिएगा न?" बसंती ने उछलकर कहा, "भइया, हमें भी।"

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गईं। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लाईं और कनस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, "अरे नरेंद्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"

संवाद

1. इस कहानी को पढ़कर पारिवारिक संबंधों के बारे में आपकी क्या धारणा बनती है?
2. परिवार के प्रत्येक सदस्य को गजाधर बाबू का टोका जाना अनुचित लगता था। आपके पिता भी किसी न किसी बात पर टोकते होंगे। ऐसे में आपकी क्या प्रतिक्रिया होती है?

पिता के जाने पर

— केदारनाथ सिंह

किसी आत्मीय के चले जाने के अनुभव को उसकी संपूर्णता के साथ व्यक्त कर पाना एक जटिल और मुश्किल काम है। केदारनाथ सिंह की कविता 'पिता के जाने पर' में उन निराकार भावों को आकार दिया गया है जिन्हें बस महसूस किया जा सकता है। मृत्यु से बड़ा सत्य कुछ नहीं, लेकिन जीवन की जय इसी में है कि वह इसे स्वीकार कर गतिमान रहे। अपने अनूठे बिंबों से कविता स्मृति की सृजना रती है।

यह वह जगह थी
जहाँ अंत भी धीरे-धीरे घुल जाता है हवा में
और वहीं से उठकर चले गए थे वे
अपने जर्जर पैरों से
सदी को नापते हुए
उनके जाने के दूसरे दिन
सबसे पहले नल में पानी आया
सँ...सूँ....करता हुआ
और यह उनके जाने के बाद की
सबसे बड़ी घटना थी
जो पृथ्वी पर घटित हुई

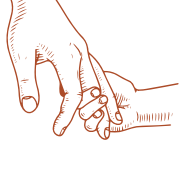

फिर अखबारवाला आया
और फेंककर चला गया अखबार
सच को जाने बिना
उसका इस तरह जाना
उतना ही सहज था
जितना सुबह-सुबह नल में पानी का आना

फिर अगले दिन
डाकिया आया
और डाल गया एक चिट्ठी जो उनके नाम थी
और चकित था मैं कि मृत्यु के बाद भी
मृत्यु को नकारती हुई आ सकती है चिट्ठी
फिर सातवें दिन कोई पंडित आया
और मुझसे कहा गया
इस समय वे पहुँचे होंगे
स्वर्ग से पहले के उस अंतिम पड़ाव तक
जहाँ भूख और प्यास से चीखती हैं आत्माएँ

मेरी समझ में कुछ नहीं आया
पर पूछना व्यर्थ था
जानना शायद उससे भी व्यर्थ
सो जो-जो कहा गया
करता गया मैं
और चढ़ाता रहा हवा में
अन्न और जल
और दूध और फल
और कहीं एक ही साथ हँसता रहा रोता रहा
सारे कर्मकांड पर

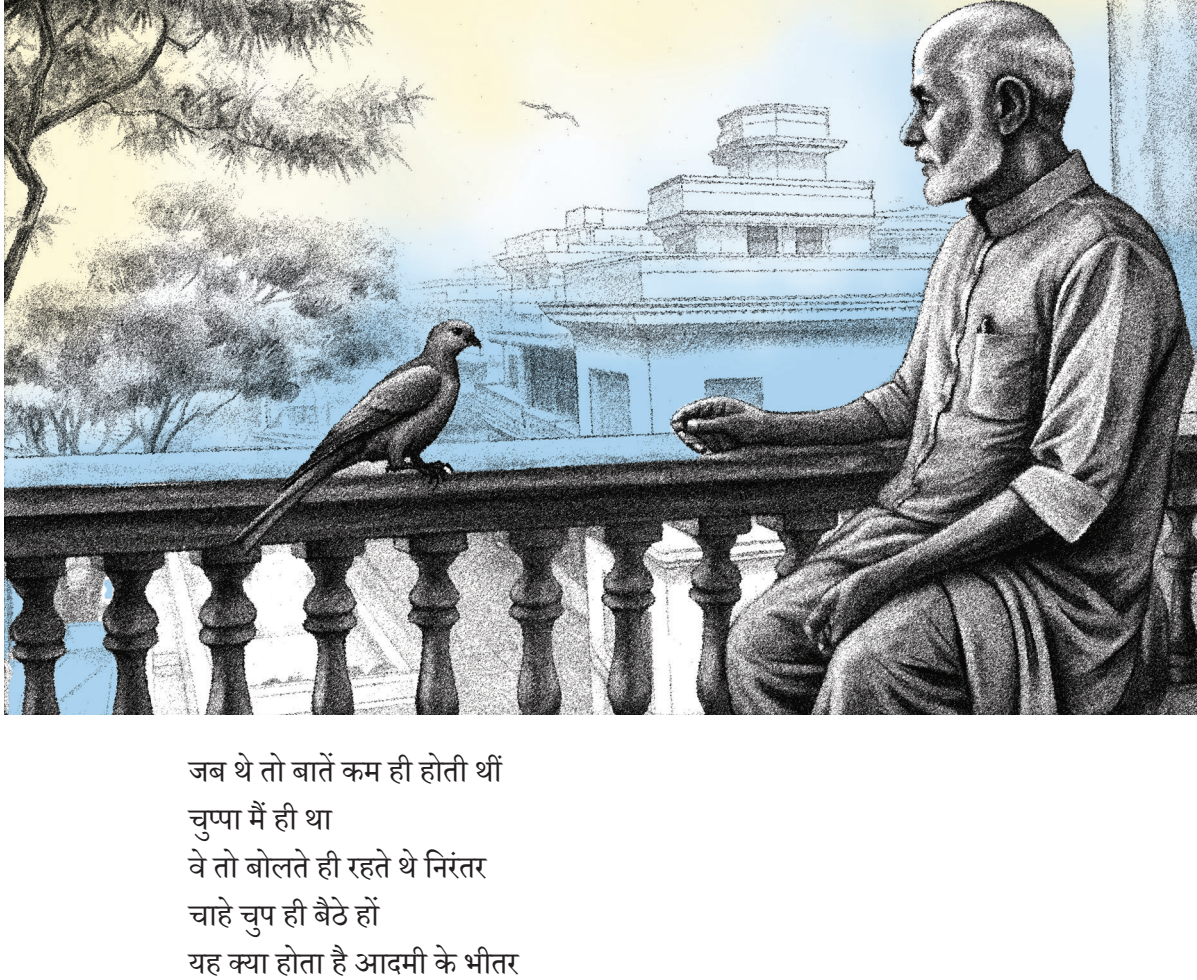

जब थे तो बातें कम ही होती थीं
चुप्पा मैं ही था
वे तो बोलते ही रहते थे निरंतर
चाहे चुप ही बैठे हों
यह क्या होता है आदमी के भीतर
कि उसकी चमड़ी के झूलते चले जाने के साथ-साथ
शब्दों में बढ़ने लगती है अर्थ की चमक
और होंठो की पपड़ियों से
छनकर आता है जाने वह क्या कुछ
एक शिशु के पहले स्तनपान की महक जैसा
इस महक से मेरा परिचय
पहली बार तब हुआ

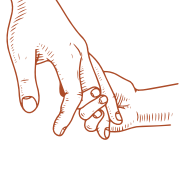

जब भरी दोपहरी में मैंने एक दिन उन्हें देखा
एक पक्षी से बतियाते हुए
मैं टोकना चाहता था
पर लगा
एक पक्षी से बतियाते हुए पिता को टोकना
सुंदरता के खिलाफ़ है
और इसीलिए इस घूमती हुई पृथ्वी की
गति के खिलाफ़ भी

इसका सबसे तीखा अनुभव
मुझे उस समय हुआ
जब मैंने उन्हें मुखाग्नि दी
वही मुख जिसने मुझे चूमा था बार-बार
जला दिया मैंने उसे
शास्त्र का आदेश था
और मेरे भीतर का संशय
दोनों मिलकर मंत्र पढ़ते रहे...

संवाद

1. कवि को पिता के जाने के बाद पहली अनुभूति क्या हुई?
2. पक्षी से बतियाते हुए किसी को टोकना सुंदरता के खिलाफ़ क्यों है?

पाषाण-गाथा

— हिमांशु जोशी

हिमांशु जोशी की कहानी 'पाषाण-गाथा' एक ऐसे बूढ़े मूर्तिकार पिता की कहानी है जो जेल में है उसे अपने पुत्र से प्रेम करने का द्वंद्व इस तरह मिला है कि वह सबकी घृणा का पात्र है। बूढ़ा पिता अपने बेटे को फाँसी और उम्र कैद से बचाने के लिए उसका अपराध अपने सिर पर ले लेता है परंतु वही बेटा उसे मरा मान लेता है। कोई उससे मिलने नहीं आता, कोई उसे पत्र नहीं लिखता, बावजूद इसके वह अपने संतानों की चिंता करता है। 'पाषाण-गाथा' हमारे समाज के संवेदनहीन होने और उसके पत्थर बनते जाने की कहानी है।

नदी पार करने के पश्चात हल्की-सी चढ़ाई थी और उसके बाद यह दूसरी दुनिया। घने वनों के बीच बिछी चादरें, ओर-छोर का कहीं पता ही न चल पाता।

अभी गर्मी आरंभ हुई थी, फिर भी गेहूँ के बित्ते-भर ऊँचे पौधे हवा में लहलहा रहे थे। किसी ने बतलाया कि ये नयी किस्म के पोधे हैं, इससे ऊँचे नहीं जाते। जितना लंबा डंठल है, उतनी ही लंबी बाली भी लगती है।

उस पार आसमान की ओर उभरी एक नीली धुँधली रेखा साफ़ दिखलाई दे रही थी— पर्वतों की माला।

सामने कतार में झोपड़ीनुमा कच्चे घर थे— घास-फूस के। अब याद नहीं, उनकी छतें टीन की चादरों से ढँकी थीं या घास-पयाल से। इतने लंबे वक्फे में तो बहुत-सी बातें यों ही धुँधला जाती हैं।

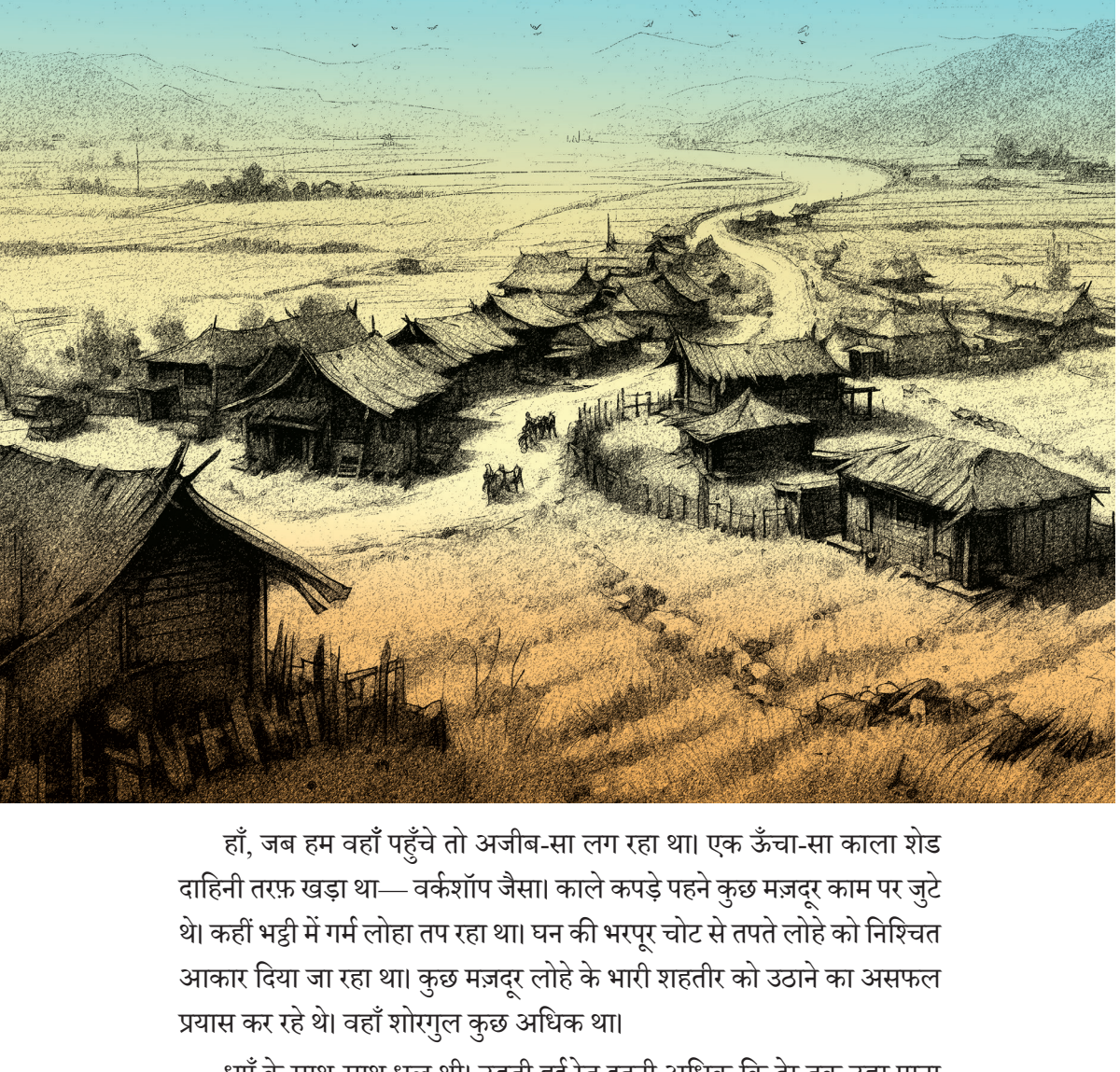

हाँ, जब हम वहाँ पहुँचे तो अजीब-सा लग रहा था। एक ऊँचा-सा काला शेड दाहिनी तरफ़ खड़ा था— वर्कशॉप जैसा। काले कपड़े पहने कुछ मज़दूर काम पर जुटे थे। कहीं भट्ठी में गर्म लोहा तप रहा था। घन की भरपूर चोट से तपते लोहे को निश्चित आकार दिया जा रहा था। कुछ मज़दूर लोहे के भारी शहतीर को उठाने का असफल प्रयास कर रहे थे। वहाँ शोरगुल कुछ अधिक था।

धुएँ के साथ-साथ धूल थी। उड़ती हुई रेत इतनी अधिक कि देर तक ठहर पाना कठिन लग रहा था।

तभी सामने अधेड़ उम्र का एक आदमी आया। उसकी घनी मूँछें डरावनी लग रही थीं। भौंह के काले बाल गुच्छे की तरह गुँथे हुए।

"फारम का काम आने वाला अउजार हम अपनेई ठीक कै लेइत हैं।" उसने कहा।

"कब से हैं यहाँ?" मैंने पूछा।

"तिन साल येहि चैत मा पूरा होई जाई।"

"रहने वाले कहाँ के हैं?"

"सुलतानपुर कै।"

बगल में खड़े अधिकारी ने मेरे कान के पास मुँह ले जाकर फुसफुसाते हुए कुछ कहा– इतने धीमे स्वर में कि सामने खड़ा व्यक्ति न सुन सके। फिर भी पता नहीं, किस तरह वह भाँप गया। बोला, "हमहु भी सज़ा आफ़ता अहि— मुजरिम..."

"किस अपराध में?"

"दफ़ा तीन सौ दोई— उमर कइद।"

मुझे आघात-सा लगा।

"जुर्म क्या?"

"क-तल।" उसने बड़े सहज भाव से कहा।

पर मेरा मुँह तनिक खुल-सा आया।

"यहाँ सभी कैदी लगभग ऐसे ही है।" अधिकारी ने बतलाया, "अधिकतर दफ़ा तीन सौ दो के हैं— आजन्म कारावास वाले।"

आस-पास बड़े अन्य व्यक्तियों को भी उन्होंने इशारे से पास बुलाया।

हत्या! मार-पीट! डकैती!

सुबह तड़के जब यहाँ के लिए रवाना हुए, तब कुछ-कुछ सर्दी थी। किंतु इस समय दोपहर की धूप कहीं चुभ-सी रही थी।

समीप ही पेड़ के नीचे धूल से ढँकी, काठ को टूटी हुई दो-तीन पुरानी कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। रूमाल से उन्हें साफ़ कर किसी तरह बैठ गए।

साथ आए सज्जन चाय की व्यवस्था करने चले गए।

कुछ देर पश्चात पुलिस अधिकारी के पीछे-पोछे एक नाटा-सा व्यक्ति केतली और लोहे के गिलास थामे, लंबे-लंबे डग भरता चला आ रहा था। उसकी सामने वाली जेब कुछ उभरी हुई थी। बिस्कुट के छोटे पैकेट का ऊपरी हिस्सा साफ़ दिखलाई दे रहा था।

चाय लानेवाला भी कोई कैदी था, बनानेवाला भी।

पता नहीं चाय क्यों इतनी बेस्वाद लगी। एक अजीब-सी गंध आ रही थी। पानी ही ऐसा होगा, मैंने मान लिया था।

इस खुली जेल के बारे में कुछ विशेष जानकारी हासिल करने के लिए मैं यहाँ आया था। इन विकट अपराधियों को, इस तरह मुक्तभाव से विचरण करते देख, मुझे अजीब-सा लग रहा था— एक विचित्र-सी दहशत। ये भागते नहीं होंगे? आपस में ही कभी फिर कत्ल!

"अभी आपको कैदियों के फार्म की ओर भी जाना है। गेहूँ की यह फसल इन्हीं कैदियों ने उगाई है। यहाँ पहले बियाबान जंगल था। इन्हीं लोगों ने उसे साफ़ किया था।" खाकी कपड़े पहने एक व्यक्ति पास आकर बोला।

कुछ क्षण विश्राम करने के पश्चात हम फिर आगे बढ़े— खेतों की तरफ़।

यहाँ परती धरती तोड़ी जा रही थी। दो-तीन ट्रैक्टर धूँ-धूँ करते हुए, ढेर सारी धूल

एक साथ उड़ा रहे थे। ट्रैक्टरों के पीछे कुछ लोग नंगे पाँव दौड़-से रहे थे, जो भी पत्थर सामने दिखता, उठाकर एक ओर जमा करते चले जाते।

जहाँ ट्रैक्टर चल चुके थे, वहाँ टोलियों में बिखरे लोग घास-फूस इकट्ठी करके जला रहे थे। जगह-जगह घास की ढेरियों के पास धुआँ उठ रहा था। बुआई के लिए खेत यथाशीघ्र समतल हो जाएँ, सब इसी प्रयत्न में जुटे दिख रहे थे।

सिर पर मोटे खद्दर की मैली-सी टोपी, उसी कपड़े की आधी बाँह की बंडी, घुटने तक का वैसा ही पाजामानुमा कच्छा पहने कितने ही लोग यंत्रवत काम में जुटे थे। अलग-अलग दिशाओं में अनेक टोलियाँ फैली थीं।

घंटों तक पैदल इधर-उधर चलने के पश्चात अंत में हम उस सिरे पर पहुँचे, जहाँ कैदी मज़दूरों ने अपने ही प्रयत्नों से एक नाले का बहाव रोककर, छोटी-सी कृत्रिम झील बना ली थी। बीच पानी में कई पेड़ आधे-आधे डूबे थे। किनारे की लाल कच्ची मिट्टी अभी तक भी गीली थी, जैसे अभी-अभी झील का निर्माण-कार्य समाप्त हुआ हो।

कुछ और आगे बढ़कर अँधेरे जंगल के सिरे पर पहुँचे तो वहाँ गीली ज़मीन पर शेर के पंजों के जैसे निशान दिखलाई दिए।

"यहीं पर कुछ दिन पहले शेर ने एक कैदी को मार डाला था..." पुलिस अधिकारी ने और आगे न बढ़ने के लिए चेतावनी-सी देते हुए कहा।

जब हम पीछे मुड़ने लगे तो सूरज फिसलता हुआ क्षितिज के समीप पहुँच चुका था।

फार्म की सीमा-रेखा के निकट, एक ऊँचे वृक्ष की शाखाओं पर, हवा में झूलती एक झोंपड़ी-सी अटकी थी, इतनी छोटी कि एक व्यक्ति पाँव फैलाकर सो भी न पाए।

"यह किसलिए....?"

"रात में पहरेदारी के लिए यह मचान बना रखा है कि कहीं कोई कैदी निकल न भागे।"

"पहरेदारी कौन करता है?"

"इन्हीं कैदियों में से..."

तभी सामने से गुजरते किसी कैदी को आवाज़ लगाई तो वह सहमता हुआ खड़ा हो गया।

"आजकल यही पहरेदारी कर रहा है।"

"सारी रात इस जंगल में अकेले बैठे डर नहीं लगता?"

वह बोला कुछ नहीं, बस, यों ही देखता रहा।

"कभी घर जाने को मन करता है?"

उसने मात्र सिर हिला दिया।

"अब कितने बरस बाकी है।"

"....."

"यहाँ की ज़िंदगी बहुत कष्टकर है न।"

इस बार भी वह काठ-सा देखता रहा।

उसकी उदास आकृति पर राख-सी पुती थी। सूनी आँखें यंत्रवत खुलीं। घास-सी उगी दाढ़ी के बाल बड़े बेढंगे लग रहे थे।

"कोई कैदी इस खुली जेल से कभी भागता तो नहीं?" मैं पुलिस अधिकारी से पूछता हूँ– चलते-चलते।

"ऐसे वाकये कम ही होते हैं..."

सूरज ढलने के साथ-साथ सभी कैदी-मज़दूर डेरे की दिशा में लौट रहे थे, हारे-थके-से। सबके सिरों पर जलाने के लिए एकत्र की गई लंबी-सूखी लकड़ियों का छोटा-सा गट्ठर था। सब बेजान-से लग रहे थे— मशीन की तरह।

पूर्वी क्षेत्र में एक छोटा-सा हिस्सा अभी देखना बाकी था। जल्दी-जल्दी उसे देखकर लौटे तो आसमान पर ढकना-सा लग गया था, काले कंबल का, एकदम घुप्प अँधियारा।

अंग्रेज़ी के 'एल' के आकार में बनी झोंपड़ियों के आगे खुला-सा बंजर मैदान था छोटा-सा, जिसमें बीसियों चूल्हे अलग-अलग जल रहे थे। अल्युमीनियम की पिचकी हुई काली पतीलियों पर चावल जैसा कुछ बुदबुद करता हुआ उबल रहा था। दिनभर के श्रम से थके सभी कैदी रात का भोजन बनाने में जुटे थे।

"राशन सरकार देती है?"

"जी हाँ।"

"पेट भर जाता है?"

"हाँ।"

एक जवान कैदी की ओर मुड़ता हूँ, "घर से मिलने कभी कोई आता है?"

"दूर के रिश्ते की एक बुआ थी। साल-छह महीने में कभी खाने-पीने का कुछ सामान बेचारी डाल जाती थी। पर इस वर्ष माघ महीने में वह मर गई... " उसका मासूम चेहरा एकाएक गहरा उदास हो आया था।

"घर में और कोई नहीं...?"

"न्नां..."

उसके चेहरे पर अजीब-सी व्यथा, अजीब-सी विवशता थी। उसे देखकर लगता नहीं था कि इससे इतना बड़ा अपराध हुआ होगा, जिसकी ऐसी कठिन सज़ा भुगत रहा है।

कैदियों की झोंपड़ियाँ भीतर से बैरकनुमा थीं, खुली हुई। नीचे मिट्टी के कच्चे फर्श पर सूखा पयाल बिछा था। उसके ऊपर कोई फटा कंबल या चटाई मात्र। किसी-किसी कैदी के पास छोटा-सा बदरंग बक्सा भी था। कहीं पर जंग लगे टूटे कनस्तर में पिचका हुआ पुराना ताला भी लटक रहा था, शायद घर से भेजी वस्तुएँ सुरक्षित रखने के लिए।

मैं सोचता रहा— वस्तुएँ भी क्या होंगी, इन अनिकेत विस्थापितों के पास! तन के कपड़े, फटे कंबल, चावल, आटा, बीड़ी, गुड़! इनके अलावा और क्या?

आँगन के दाहिनी तरफ़, एक कोने में मूर्ति का-जैसा ढाँचा खड़ा था।

"यह मूर्ति किसी कैदी ने बनायी है क्या?" जिज्ञासा से मैंने पूछा।

"जी हाँ।"

उसी के निकट चूल्हा जल रहा था। एक बूढ़ा कैदी गर्दन झुकाए, ऊँघता हुआ बैठा चावल उबाल रहा था। सैंवार की तरह उलझे बाल! कोटरों में धँसी निस्तेज आँखें। झुर्रियों से ढँका चेहरा!

"इसी ने बनाई है... पहले बरेली सेंट्रल जेल में था। सुना है, वहाँ भी ऐसा ही कुछ करता रहता था।" पुलिस अधिकारी ने बतलाया।

हमें पास देखते ही, उसने उठ खड़े होने की कोशिश की। उसकी कमर धनुष की तरह झुकी थी, अधखुली आँखों में जिज्ञासा का-जैसा भाव।

"बहुत अच्छी बनाई है।" मूर्ति को मैंने हाथ से छूकर देखा-परखा।

वह संकोच से और छोटा हो आया— सिकुड़कर। मेरी ओर देखता हुआ बोला, "यों ही कुछ... अब आँख से बहुत कम देखता हूँ। हाथों में भी जान नहीं रही।"

"यहाँ कैसे आ पड़े...?"

कुछ देर वह वैसा ही देखता रहा— निर्निमेष। फिर धीरे से बुदबुदाता हुआ बोला, "हत्या और बलात्कार का जुरम लगा है साब....!"

अब आग के और निकट होने के कारण उसका सूखे खजूर-सा चेहरा और भी पीला लग रहा था। मकड़ी के जाले-जैसी अनगिनत रेखाओं से ढँकी आकृति पर एक साथ कितने ही भाव आ-जा रहे थे, पानी पर डोलते प्रतिबिंब की तरह।

"कैसे हो पड़ा यह सब...?"

"किस्मत में यही लिखा था, हुजूर! उसकी लिखी को कौन टाल सकता है?"

ठंडी हवा से उसके तन पर लटके चीथड़े ही नहीं उसका बूढ़ा सारा शरीर सूखे पत्ते की तरह काँप रहा था। दोनों नंगे हाथों को, सर्दी से बचाने के लिए, अपनी कुहनियों की बगल में छिपाने का असफल प्रयास कर रहा था।

"कैदियों के साथ इतनी लंबी उम्र गुजारने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कोई भी आदमी 'बेसिकली' बुरा नहीं होता। आवेश के किसी क्षण में कभी-कभी कुछ-का-कुछ हो जाता है।" पुलिस अधिकारी ने दार्शनिक अंदाज़ में कहा।

हम लोग थोड़ी देर यों ही खड़े रहे। एक-एक पल भारी लग रहा था, एकदम बोझिल। चुल्हे की धुँधली आग के उजाले में मूर्ति का ढाँचा अब और भी साफ़ दिख रहा था।

भारी मन से हम लौटने लगे। अभी कुछ ही कदम अँधेरे में रास्ता टटोलते हुए आगे बढ़े तो पीछे से किसी के आने की आहट हुई।

मुड़कर देखा। वह फिर सामने खड़ा था। तनिक हाँफता हुआ।

"आपका मफलर रह गया था! ज़मीन पर गिरा था।" उसने मफलर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा।

जब मैं मूर्ति को टटोल रहा था, तब कंधे पर से शायद नीचे गिर पड़ा हो।

"आप ही रख लीजिए।" मैंने पता नहीं क्या सोचकर कहा।

"नहीं-नहीं।" वह और कसरा आया।

"अरे भाई, हम कह रहे हैं। रख भी लीजिए। क्या फ़र्क पड़ता है!"

मैंने मफलर उसके हाथ में दिया, तो वह ठगा-सा खड़ा देखता रहा।

"आप और भी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ बनाएँ, हमारी शुभकामनाएँ हैं..."

मफलर अभी तक भी उसके हाथ में यों ही धरा था।

कुछ सोचता हुआ वह बोला, "मैंने कुछ और भी मूर्तियाँ बनाई हैं— मिट्टी की। दिन की रोशनी में आप आते तो दिखलाता। आपके चेहरे के भावों से लगता है, आप कला के अच्छे पारखी हैं..." कहते-कहते वह सहसा चुप हो आया। फिर तनिक रुककर बोला, "आपको भी यही लगता है कि मैंने हत्या की है?"

"....."

उस अंधकार में मैं महसूस कर रहा था, वह अपलक मेरी ही ओर देख रहा है।

"किसी से कहिएगा तो नहीं..." वह मुझे पुलिस-अधिकारी से कुछ दूर एकांत में ले जाता हुआ बोला, "यह भूल... यह भूल मुझसे नहीं, मेरे बेटे से हुई थी। भरी जवानी में उसे फाँसी के तख्ते पर झूलते या उमर-कैद की सज़ा काटते मैं कैसे देख सकता था? इसीलिए जुर्म मैंने खुद ओढ़ लिया। ...यों मुझे अब जीना ही कितना है, हद-से-हद साल-छह महीने बस...!" उसका स्वर भारी हो आया।

"बच्चे कभी मिलने आते हैं?" मैंने असह्य मौन तोड़ते हुए कहा।

वह कुछ भी बोल न पाया— प्रत्युत्तर में।

"चिट्ठी-पत्री आती है....?"

"न्ना..." कहीं खोया-खोया-सा वह बोला, "कौन लिखेगा मुझे चिट्ठी... सब मुझसे घृणा करते हैं। यही समझते हैं कि यह सब बुढ़ापे में मैंने ही किया। सगे-संबंधी कतराते हैं। पत्नी मेरा मुँह तक नहीं देखना चाहती... जिस बेटे के लिए मैंने यह सब किया, वह मुझे कब का मरा मान चुका है... ये सारे कैदी, जिनकी चादरें मुझसे भी अधिक मैली हैं, मुझ पर थूकते हैं...। किंतु मुझे इस सबसे दुख नहीं होता। मेरे बच्चे सुख से रह रहे हैं—

इससे अधिक मुझे और क्या चाहिए?"

उसकी आवाज़ भीग आई थी। किंतु वह अपनी रौ में बोलता रहा, "यहाँ मज़दूरी से मुझे साढ़े चार रुपये रोज़ मिलते हैं। अब तक मेरे खाते में जितने भी रुपये जमा हैं, सब मैंने उनके नाम करवा दिए हैं। मेरे मरने बाद उन्हें अच्छी रकम मिल जाएगी... बहुत अच्छी..." उसकी लड़खड़ाती आवाज़ में कहीं अपरिमित संतोष का-सा भाव उभर रहा था। इससे अधिक वह कुछ बोल न पाया।

उस सघन अंधकार में धूल उड़ाती हुई हमारी जीप जब लौटने लगी, तब मैंने सहसा मुड़कर देखा— वह वैसा ही पाषाणवत खड़ा था।

संवाद

1. निम्नलिखित में से किसे आप कहानी की मूल संवेदना कहेंगे और क्यों?
   (क) खुली जेल में कैदियों का जीवन
   (ख) दफ़ा तीन सौ दो के अपराध
   (ग) पुत्र के प्रति पिता का त्याग
   (घ) इनमें से कोई नहीं

2. मान लीजिए आप जेल अधिकारी हैं और आपको मूर्ति बनाने वाले कैदी की सच्चाई का पता चल जाता है। आप निम्नलिखित में से क्या-क्या करना चाहेंगे और क्यों?
   (क) न्यायालय के समक्ष सच्चाई प्रस्तुत कर कैदी के पुत्र यानी कि असली अपराधी को कैद में डलवाएँगे।
   (ख) कैदी के परिवार को कैदी की सच्चाई बताकर उनके मन में कैदी के प्रति आदर, श्रृद्धा का भाव जागृत करेंगे।
   (ग) कैदी के पुत्र को उसके व्यवहार के प्रति फटकार लगाएँगे और कैदी के प्रति सही आचरण करने के लिए कहेंगे।
   (घ) वर्तमान पीढ़ी को पिता की महिमा बताने के लिए कैदी के त्याग का जगह-जगह बखान करेंगे।

एक का पहाड़ा

— सुभाष पंत

सुभाष पंत की कहानी 'एक का पहाड़ा' बेहद गरीब परिवार की कथा है। कहानी में आए पिता तरह-तरह के उपाय कर किसी तरह परिवार चलाते हैं। लेकिन गरीबी से छुटकारा नहीं मिलता। पिता के इस विचार से कि आदमी पूरी हिम्मत और मेहनत से काम करे और फिर भी उससे पुल पार न हो तो इसकी कोई वज़ह तो ज़रूर होनी चाहिए। बेटा भी जूझता है और उनकी कथा सुनाता है। अंत में पिता को अपनी ज़िंदगी एक के पहाड़े की तरह लगती है जिसमें कोई गुणात्मक वृद्धि नहीं होती।

ये मेरे पिता के अंतिम क्षण थे।

उनकी आवाज़ का करारापन टूट गया था और ऐसा लगता था, जैसे वह किसी अंधे कुएँ की अतल गहराई नमी और अंधेरे से निकलकर और इन्हें साथ लेकर आ रही है। एकाएक यह समझ पाना मेरे लिए मुश्किल था कि उनकी आवाज़ थकी हुई है या हारी हुई। उनके चेहरे पर अलबत्ता एक आध्यात्मिक किस्म की उदासी थी, जैसी इससे पहले मैंने कभी नहीं देखी थी। वे अपने अंतिम दिनों में भक्त किस्म के अवश्य हो गए थे, लेकिन आध्यात्मिक वे कतई नहीं थे और इसके अलावा मैंने उन्हें कभी उदास भी नहीं देखा था। उनकी शख्सियत का सबसे मनोहारी, निर्मल और महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि वे हँसना जानते थे और कभी उदास नहीं होते थे।

यह उस अगस्त की बात है जब मैं हाई-स्कूल का दरम्याने किस्म का छात्र था और मेरा ख्याल है यह चौदह अगस्त थी क्योंकि अगले दिन जिस समय हम पिछली रात बैठी अपनी घर की दीवार की मरम्मत कर रहे थे, जिसमें एक शानदार झरोखा

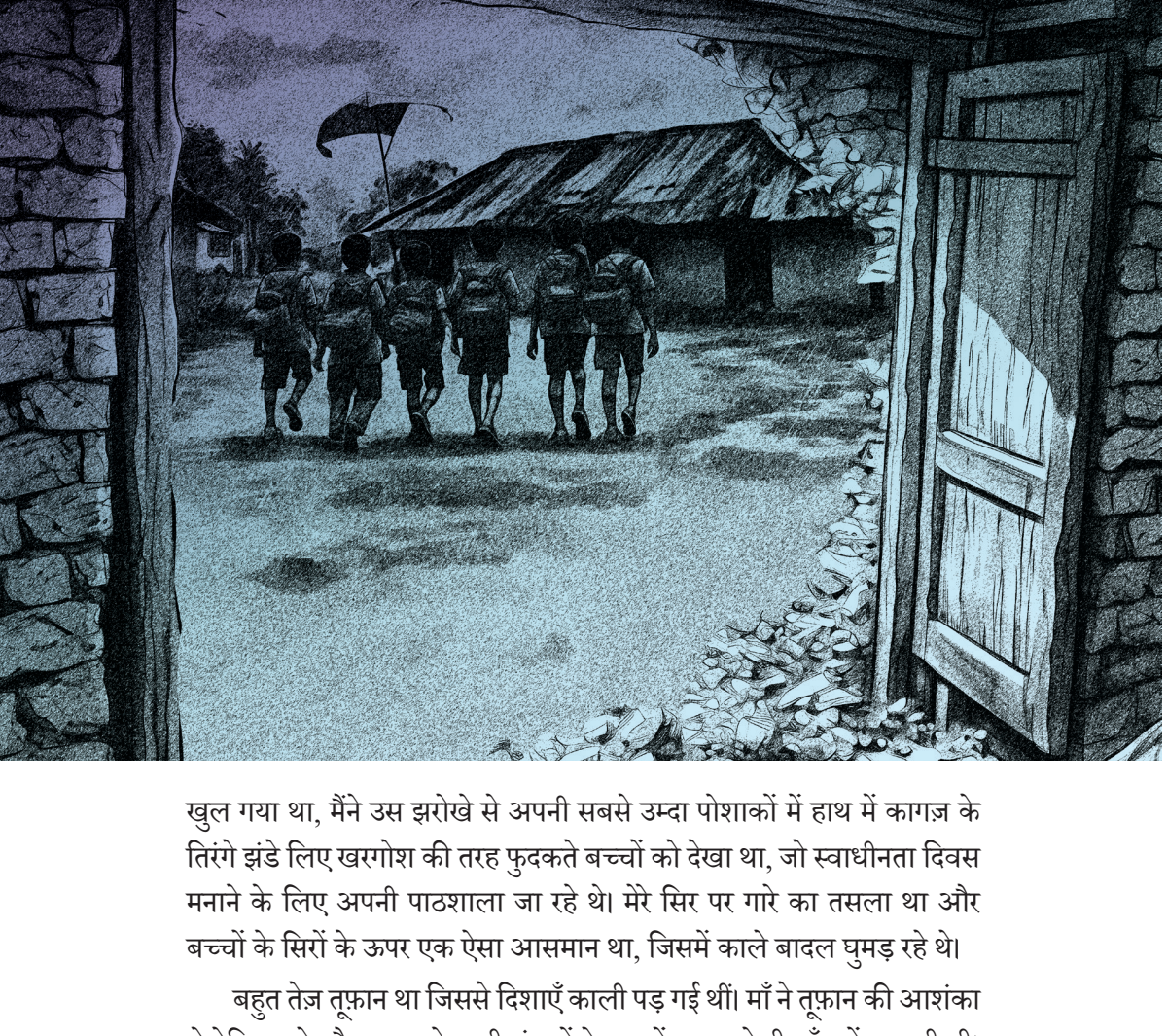

खुल गया था, मैंने उस झरोखे से अपनी सबसे उम्दा पोशाकों में हाथ में कागज़ के तिरंगे झंडे लिए खरगोश की तरह फुदकते बच्चों को देखा था, जो स्वाधीनता दिवस मनाने के लिए अपनी पाठशाला जा रहे थे। मेरे सिर पर गारे का तसला था और बच्चों के सिरों के ऊपर एक ऐसा आसमान था, जिसमें काले बादल घुमड़ रहे थे।

बहुत तेज़ तूफ़ान था जिससे दिशाएँ काली पड़ गई थीं। माँ ने तूफ़ान की आशंका से ऐतिहात के तौर पर घर के सभी जंगलों के पल्लों पर पहले ही साँकलें चढ़ा दी थी। लेकिन ये साँकलें तूफ़ान के पहले ही वार में पस्त होकर लड़खड़ा गई थीं और पल्ले भयाक्रांत चीखते हुए टेक की दीवार पर टकरा रहे थे। तूफ़ान किसी आततायी की तरह जंगलों के रास्ते भीतर घुस गया था और उसने दीवार पर टंगे कैलेंडरों वगैरह को रौंधते हुए कानस पर सजे मिट्टी, भूसे, तार और पेरिस के प्लास्टर से बने खिलौनों के हमारे संसार को धराशाई कर दिया था। ये खिलौने हमने दीर्घ प्रतीक्षाओं और विकल

हसरतों से मेलों से खरीदे थे और इनमें से कोई भी दस-बारह आने से ज़्यादा कीमत का नहीं था, लेकिन माँ टूट जाने का भय दिखाकर हमें इनसे कभी खेलने नहीं देती थी और मेलों से लाने के तुरंत बाद ये अमूल्य थाती की तरह आकार के हिसाब से कानस पर सज़ा दिए जाते थे। ऐसे वक्त जब माँ इन्हें हमारे हाथ से छीनकर कानस पर सजाती तब वह हमें बहुत निर्मोही और स्पंदनहीन औरत की तरह लगती। लेकिन जब हमारे घर मेहमान आते, जिनका उन दिनों आना-जाना सहज ढंग से लगा रहता था, और उनकी निगाह खिलौनों पर पड़ती, जो कानस पर सजे होते और जिनके नीचे माँ की धोती से काटकर बनाया और फ्रेल लगा पोश होता तो मुझे लगता कि उनकी निगाह में हमारी हैसियत कुछ बढ़ गई है। मैं माँ के सौंदर्य बोध और उसकी सामाजिक समझ पर मुग्ध हो जाता जिससे मेरे भीतर गर्वीली चमक लहकने लगती...।

खिलौने के टूटकर बिखरने की आवाज़ के साथ माँ दौड़ी हुई आई और हमें जंगलों के पल्ले बंद करने का आदेश देकर खुद भी इस काम में जुट गई। उसे डर था कि तूफ़ान से घर की टिनें उड़ जाएगी, उसका यह डर भावुक नहीं, व्यावहारिक था क्योंकि तूफ़ान के पहले झटके ने भीतर घुसते ही घर की आत्मा को झकझोर दिया था। मैं तब हाई-स्कूल का दरम्याने किस्म का छात्र था और मुझे घर की उज्ज्वल संभावना माना जाता था, जिसकी वज़ह से मैं घर में विशिष्ट व्यवहार का हकदार हो गया था और मेरी बात को महत्व दिया जाता था। चूँकि मेरे भीतर विज्ञान की थोड़ी-बहुत समझ पैदा हो गई थी इसीलिए मैं माँ को समझाना चाहता था कि अगर टिनों पर भीतरी और बाहरी वायुदाब बराबर होगा तो वे अपनी जगह पर टिकी रहेंगी जिसके लिए पल्ले खुले रहने चाहिए। लेकिन माँ इतनी घबराहट भरी हड़बड़ी में पल्ले बंद कर रही थी कि तर्क स्थगित करके मैं भी अपने भाई-बहनों के साथ उसके काम में हाथ बँटाने लगा। दोनों बहनें तब इतनी छोटी, कमज़ोर, कोमल और मासूम थीं कि उनसे पल्ले बंद नहीं हो रहे थे। तूफ़ान उन्हें पीछे धकेल देता, उनके हाथों से पल्लों की पकड़ छूटती और वे टेक पर तेज़ी से भड़भड़ा उठते। लेकिन हिम्मत न हारते हुए और बावजूद इसके की उनकी फ्राकें तूफ़ान के साथ आए जलकणों से नम थीं, आँखें उसके प्रबल आवेग को झेल न पाने की वज़ह से झिपी जा रहीं थी, उनके भीगे रेशमी बाल हवा में भयाक्रांत फरफरा रहे थे और उनकी स्थिति उस प्रचंड तूफ़ान के सामने नन्ही-सी चिड़ियाओं की तरह थी, वे उससे लड़ रही थी, क्योंकि वे उस घर की लड़कियाँ थीं। छोटा भाई भी, जो हँसोड़, फक्कड़, कामचोर और मस्त किस्म का था,

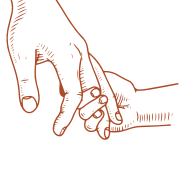

जिसे माँ अक्सर औलिया-मौलिया कहती लेकिन घर में सबसे ज़्यादा प्यार करती थी, व्यग्रता दर्शाते हुए उठा-पटक कर रहा था, पर माँ या बहनों के साथ ठिठोली का कोई अवसर ढूँढ़ती एक बेचैन मुस्कराहट उसके होंठों पर छुपी थी।

पल्ले बंद कर लेने और उनके कुण्डों में मोटी कीले फँसाने के बाद माँ हमारी भावनाओं को सम्मान देते हुए नारियल की सींकों वाले सख्त झाड़ू की जगह फूलझाड़ू से टूटे खिलौने समेटने लगी। खिलौनों के अवशेष बुहारते हुए उसकी आँखें इतनी भारी थीं कि लगता था मानो ये जो खिलौने टूटे थे वे हमारे नहीं उसके खुद के खिलौने थे। बाहर प्रलयंकारी तूफ़ान से टिन की छत शरारती बच्चे के हाथ के झुनझुने-सी बज रही थी पर हमारी प्रार्थनाओं का, जिन्हें हम मन ही मन अपने-अपने विश्वासों के साथ बुदबुदा रहे थे, सम्मान रखते हुए अभी वह सड़ी बल्लियों-बत्तों और जंग खाई कीलों-ढिबरियों के कमज़ोर सहारे छत पर टिकी हुई थी। लेकिन पूरी श्रद्धा से की गई हमारी प्रार्थनाएँ बहुत देर अपनी गरिमा नहीं बनाए रख सकी और तूफ़ान के अगले और अधिक प्रखर झटके से हमारे सहन की कुछ टिनों के जबड़े खुल गए और वे धौंकनी की तरह ऊपर-नीचे डोलने लगे। माँ ने घबराकर हमें अपने सीने में समेट लिया जो कपड़ा सिलती मशीन के शिटल की तरह धड़धड़ा रहा था। जब हमने माँ के सीने से अपने सिर उठाए तब तक सहन की कई टिनें उड़ चुकी थीं, हमारा संकुचित संसार एकाएक बहुत विस्तृत हो गया था और हमारे सिरों पर आसमान की छत थी, हालाँकि उस वक्त उसमें गहरे भूरे और हाथियों की तरह चिंघाड़ते बादल थे। कई दिनों से बरसती बारिश, जो कुछ देर के लिए साँस लेने को रुकी थी, फिर से बरसने लगी और एकदम झटके से बहुत तेज़। हम उड़ी टिनों के नीचे के सामान को उस निरापद स्थान पर सरकाने लगे, जहाँ छत की टिनें फिलहाल सुरक्षित थीं, लेकिन वे भी जगह-जगह टपक रही थीं और हमें बार-बार सुरक्षित जगह की तलाश करनी पड़ रही थीं। इसी समय यह हुआ कि घर की दक्षिणी दीवार का एक हिस्सा धप्प से जीने में गिर पड़ा, जिसकी पक्की मुंडेर में तरेड़ आ जाने की वज़ह से उसमें पानी मरकर नीचे कच्ची दीवार में आ गया था और वह भीगकर फूल गई थी। उसकी वज़ह से हमारा ऊपर-नीचे जाने का रास्ता बंद हो गया, क्योंकि दीवार का गिरा थक्का गीला और चिकना था। परिवार के सब सदस्य चिंतातुर हो गए कि वे अब नीचे रसोई में कैसे जाएँगे और शाम का खाना कैसे बनेगा?

मेरी चिंता पिता को लेकर थी कि जब वे रात को पस्त, हारे और अगर तब भी बारिश हो रही होगी तो भीगते हुए काम से लौटकर आएँगे और घर की उड़ी छत और गिरी दीवार देखेंगे तो उन पर क्या बीतेगी? रात को पिता के लौटने के बाद, जिनके लिए हमने जीने में गिरी मिट्टी के बीच ऐसा रास्ता बना दिया था जिस पर सावधानी से चला जा सकता था, मेरी चिंता निर्मूल सिद्ध हुई। मेरी सूचना से हतप्रभ हुए बिना उन्होंने एक हाथ में थामा साइनबोर्ड दीवार से सटाया, जो तूफ़ान में किसी दुकान से उखड़कर सड़क पर पड़ा होगा, जिसे वे घर के दीमक से सड़े दरवाज़े के पल्ले में ठोककर उसे दुरुस्त करने के लिए लाए थे। फिर अपनी लंबी टार्च से, जिसमें ऐवर-रेडी के चार सैल पड़ते थे और जो उन्हें छविगृह के दफ़्तर से मिली थी, घर की उड़ी छत को कुछ क्षणों तक अवाक से देखते रहे और फिर खिलखिलाकर हँसते हुए बोले– "तो उड़ गई। इसे भी कमबख्त आज ही उड़ना था।"

छत उड़ने और जीने की दीवार गिरने का उन्हें कोई मलाल नहीं हुआ। इसे उन्होंने बहुत सहज भाव से स्वीकार कर लिया था, हँसते-हँसते। शायद उन्हें अपने पौरुष और बाहुबल पर ज़रूरत से ज़्यादा विश्वास था। उनके पास दीवार की मरम्मत और टिन जड़ने के पैसे नहीं थे लेकिन वे कतई भी निराश नहीं हुए और उन्होंने खुद गिरी दीवार चिनी, अपने हाथों से सड़े बत्ते और बल्लियाँ बदलकर टिन को फिर से छत पर बैठाया और सड़क से उठाकर लाए साइनबोर्ड को, जो किसी सोडा-वाटर की दुकान का था, काटकर मुख्य दरवाज़े के उन हिस्सों पर ठोककर उन्हें दुरुस्त किया, जिन हिस्सों को दीमक चाट गए थे। हालाँकि उनकी चिनी दीवार बहुत भोंडी थी, उनके हाथ से बैठाई गई टिनें कतई एकसार नहीं थीं और साइनबोर्ड काटकर की गई दरवाज़े की मरम्मत से हमारा घर काफ़ी हास्यास्पद हो गया था। हमें इसकी वज़ह से हीनभावनाग्रस्त होना पड़ता था और उस वक्त तो मुझे बहुत शर्मिंदगी उठानी पड़ी थी, जब पहली बार मेरी प्रेमिका पल्ली हमारे यहाँ आई थी और दरवाज़े के निचले हिस्सों पर सोडा-वाटर कंपनी का साइनबोर्ड ठुका देखकर भौंचक्की रह गई थी। वह लहलहाती आत्मा और कोमल सौंदर्य-बोध की तरंगित उम्र की कल्पनाशील लड़की थी, जिसके पारदर्शी नयनों में सोते-जागते सपने थे। स्टील के गिलास में पानी पिलाकर जब मैंने उसके भौंचक्केपन और मानसिक झटके को सामान्य कर दिया था तब भी मैंने देखा था कि उसकी आँखें मुझसे उस कलाकार के बारे में पूछ रही थी

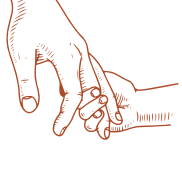

जिसकी उसके ख्याल से यह नायाब रचना थी। मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं था कि उसका वास्तविक निर्माता कौन था? मेरे पिता, या मेरे पिता की गरीबी? पिता ने इसे पाँच साल पहले दरवाज़े पर ठोका था और उनकी गरीबी ने उसे इतने अरसे तक ठुके ही रहने दिया था और अभी पता नहीं कितने अरसे और उसका इरादा उसे इसी प्रकार वहाँ ठुके रहने देने का था। लोग कुछ भी कहते रहें लेकिन पिता इससे कतई भी हतोत्साहित नहीं होते थे। वे ठहाका लगाकर कहते आखिर कोई न कोई खासियत तो है न इस घर में कि यह बराबर लोगों की निगाह और चर्चा में रहता है... और यह भी कि दरवाज़े के साइनबोर्ड जड़े हिस्से इतने पुख्ता हो गए हैं कि अब दीमक उन्हें चाटने की हिम्मत नहीं कर सकते।

उनका इस तरह आध्यात्मिक किस्म से उदास होना मुझे बुरा लगा। उन्होंने सारा जीवन हँसते हुए काटा था और अब जब वे अपने जीवन की अंतिम यात्रा पर थे तो मैं यह चाहता था कि वे इसे भी हँसते हुए पूरा करें...।

उनकी आँखें, जो मुझे लगी कि सिकुड़कर छोटी पड़ गई हैं, हालाँकि सर्वाधिक संवेदनशील होने के बावजूद आँखें कभी अपना आकार नहीं बदलती, हौले से काँपी और फिर कुछ देर एकटक मेरी ओर देखते रहने के बाद उन्होंने ऐसी आवाज़ में कहा, जिसका करारापन टूट चुका था और जो रेस में थके घोड़े-सी हाँफ रही थी, "एक पुल है जिसे मैं पार करना चाहता था। इसे पार करने के लिए मैंने तमाम उम्र संघर्ष किया...।"

वे हर समय किसी जुस्तजू में लगे रहते थे, लेकिन उनकी यह संलग्नता उस पुल को पार करने की थी, जिसके पास कोई बहुत सुखद ज़िंदगी आँखें बिछाए उनकी प्रतीक्षा कर रही होगी, इसकी जानकारी ने मुझे एक बेचैन छटपटाहट से भर दिया।

जहाँ तक मुझे याद है वह दिसंबर का ठिठुरता महीना था। पहाड़ों पर बर्फ पड़ गई थी और हवा पागल कुत्ते की तरह काटने को झपटती थी। पाला बर्फ की चादर की तरह मैदानों में पसरता और हवा के साथ उड़कर उँगलियों के पोरो और नाक को इतना सुक्का कर देता कि लगता मानों वे झड़ गए हों। तब पिता की उम्र पैंसठ साल थी और ऐसी ठंडी रात में उनका एक्सीडेंट हो गया था।

वे रात में आखिरी शो बंद करके अपने काम से लौट रहे थे। उनके एक हाथ में शिकारी टार्च थी और दूसरे हाथ में भी कोई न कोई चीज़ अवश्य रही होगी क्योंकि

वे रात को काम से लौटते वक्त कुछ न कुछ ज़रूर बटोरकर लाते थे, जैसे ईंट, लौह-लंगड, टिन का पतरा, भिन्न-भिन्न किस्म की लकड़ियाँ, दती, कीलें वगैरह जिसे देखकर माँ भुनभुनाती तो ज़रूर थी पर इस सौगात को सहेजकर रख लेती थी। मैं उनकी इस आदत से बहुत नाराज होता, लेकिन उनका यह तर्क मुझे खारिज कर देता कि प्रतिदिन एक ईंट जोड़ने से तीस साल में घर बनाने लायक ईंटें जोड़ी जा सकती हैं, और सही बात तो यह भी थी कि उनका यह धनागार भीड़ बखत पर हमारे बहुत काम आता था। वे लदे-फदे, मुँह से भाप उड़ाते और उम्र की वज़ह से डगमगाते कदमों से आ रहे थे कि पीछे से आती मोटर साइकिल ने टक्कर मारकर उन्हें गिरा दिया। मोटरसाइकिल वाला उन्हें ऐसी हालत में सड़क पर छोड़कर भाग सकता था लेकिन शालीन संस्कारों का होने की वज़ह से वह उन्हें सड़क पर नहीं हमारे घर के दरवाज़े पर छोड़कर भागा था। अगले दिन इस घटना की सारी जानकारी दर्द से कराहते हुए और फटफटिया पर पींघने के मौलिक आभिजात्य-सुख के साथ पिता ने ही हमें दी थी। बहरहाल इस एक्सीडेंट से उनके दाएँ पैर की हड्डी टूट गई थी और डॉक्टर की राय थी कि इस उम्र में टूटी हड्डी का जुड़ना काफी मुश्किल होगा और अगर जुड़ भी गई तो इनका यह पैर सिकुड़कर सामान्य आकार से कुछ छोटा पड़ जाएगा।

हम पिता की बुढ़ापे में होने वाली संभावित दुर्गति को लेकर बहुत चिंतित थे लेकिन उन्हें पूरा यकीन था कि वे बहुत जल्दी ठीक होकर अपने काम पर लौट जाएँगे। हालाँकि नौकरी करने की उम्र वे कब की बिता चुके थे, लेकिन वे आराम करना नहीं जानते थे और अंतिम समय तक संघर्ष के बीच रहना चाहते थे, जिसका पता मुझे अब हुआ जब वे अपनी अंतिम साँसे ले रहे थे कि उनका वह संघर्ष किसी पुल को पार करने का था।

हमने एक सस्ते हड्डी विशेषज्ञ से, जिसके बारे में लोगों की राय थी कि उसे डॉक्टरी का पेशा छोड़कर पंसारी की दुकान चलानी चाहिए, घर पर ही उनकी टूटी टांग पर प्लास्टर बँधवा लिया था जो बाहर से उतना चिकना नहीं था जितना किसी विशेषज्ञ के हाथ से बँधें प्लास्टर को होना चाहिए था। हमारे पास लोहे के खांचों और स्प्रिंग के जालवाले अस्पताली पलंग थे जिन्हें पिता ने कबाड़-मूल्य में कबाड़ी बाज़ार से इसीलिए खरीदे थे कि एक तो उनमें नीवाड़ का चक्कर नहीं था और दूसरे उनमें खटमल पैदा होने की गुंजाइश नहीं के बराबर थी। डॉक्टर ने जाँचकर उनमें से

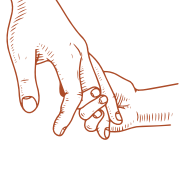

एक पलंग के पैताने को ईंटों से उठाया और पैताने पर ही एक कुर्सी बाँधकर रोगी-शय्या का निर्माण कर दिया था, जिससे इस अज्ञात तथ्य का पता चलता था कि वह सिर्फ़ डॉक्टर ही नहीं था बल्कि उसके भीतर किसी कलाकार की आत्मा और गहरी लेकिन सुप्त रचनात्मक-प्रतिभा सुयोग्य अवसर की बेचैन तलाश में थी। प्लास्टर के बाद पिता को उस रोगी-शय्या पर ऐसे लेटा दिया गया कि उनका प्लास्टर चढ़ा पैर पैंताने बँधी कुर्सी के सिर की टेक पर टिका रहे और प्लास्टर पर एक रस्सी के सहारे दो अव्वल ईंटें बाँधकर कुर्सी की सीट पर टिका दी गई थी ताकि रस्सी के तनाव से पैर अपनी जगह से बहके नहीं। यह बहुत भोंडी और हास्यास्पद व्यवस्था थी, लेकिन फिर भी यह किसी सिविल अस्पताल के जनरल वार्ड से हज़ार गुना बेहतर थी और सबसे अहम बात तो यह थी कि यह मरीज और उसके तिमारदारों को रास आ गई थी। बहरहाल ये पिता के जीवन के सर्वोच्च ऐश्वर्य के दिन थे, यह बात गीता पर हाथ रखकर शपथ से कही जा सकती है। वे अपने हाथ से जड़ी टिन के नीचे अनोखी रोगी-शय्या पर लेटे और अपनी छाती पर छोटे बेटे की बेटी को, जो ज़रूरत से ज़्यादा बातूनी और चालाक थी, बैठाकर उसे कहानियाँ सुनाते या उसकी तोतली आवाज़ में उससे कहानियाँ सुनते और जैहिन्द बीड़ी का सेवन करते रहते। दो बहुएँ और अपनी पत्नी उनकी तिमारदारी में तैनात रहती। चाय में दूध की कटौती करके उनके लिए रात को पानी मिले एक गिलास दूध की व्यवस्था भी कर ली जाती और गाहेबगाहे उनके लिए फल और पनीर भी मंगा लिया जाता।

तीन महीने के बाद प्रगति जाँच के लिए उनकी टांग का एक्से-रे निकाला गया। उसे देखकर डाक्टर अपनी सफलता पर बौरा गया। "इस उम्र में इतना अच्छा कैलसियम फार्मेशन!"

लेकिन यह डॉक्टर का नहीं, 'सिमफाइटम वन मिलियन' का कमाल था जो दवा मैंने होम्योपैथी की किताब पढ़कर उनके लिए ढूँढ़ ली थी और चुपचाप उन्हें देता रहता था, क्योंकि मैं उन्हें फिर से अपने पैरों पर खड़ा होता देखना चाहता था।

"बाउजी आप जल्दी ही बिल्कुल ठीक हो जाएँगे। पहले तो मैं डर गया था कि कहीं पैर का ऑपरेशन करके उसमें रॉड न डालनी पड़ जाए। आपने कमाल कर दिया... बस तीन महीनें की बात और है।" डॉक्टर ने कहा।

पिता उसकी बात सुनकर गुम-सुम हो गए थे।

अगले दिन जब मैं दफ़्तर गया हुआ था उस दौरान उन्होंने माँ को डपटकर और फिर उसकी सहायता से अपने पैर का प्लास्टर काट दिया, लौटने पर मैंने देखा कि उनके सूजकर कुप्पा हुए पैर को माँ आकाशबेल से उबले निमाए पानी से सेंक रही है।

"यह क्या किया आपने? तीन महीने की हमारी सारी मेहनत पर पानी फेर दिया। अब ये पैर ठीक होने से रहा...।"

"चार दिन में आकाशबेल के पानी से सिंककर ठीक हो जाएगा।" बहुत सहज भाव और विश्वास से भरा उत्तर था उनका।

"फिर भी ऐसी क्या आफत आ गई थी?"

"मैं अब और इंतज़ार नहीं कर सकता। अभी भी सालों ने मैटनी के पैसे काट लिए, आगे तो तन्खा भी नहीं मिलेगी। नौकरी भी जा सकती है। जैसे-तैसे तो चल रही है ये नौकरी।"

"नौकरी को लात मारिए। अब आराम करिए... आखिर कभी तो आदमी को आराम करना चाहिए।"

वे टपटप मेरी ओर देखने लगे, देखते ही रहे कुछ देर और फिर जैसा कि अमूमन होता था वे हँसे और बोले, "हमारी जैसी औकात के आदमी के नसीब में कहीं आराम होता है क्या?"

दोएक दिन की सिंकाई के बाद वे किसी तरह दीवार पकड़कर खड़े हुए, फिर चीखते-कराहते हुए हाथ में लाठी लेकर दो-एक कदम चले, फिर आँगन तक निकलने लगे और दस-पंद्रह दिन में अपने काम पर चले गए। उनका पैर फिर कभी ठीक नहीं हुआ। वह कुछ छोटा पड़ गया था और उसमें कोई स्थायी किस्म की विकृति हो जाने के कारण वे लचक कर चलते। थोड़ा चलने पर वह सूज जाता और दर्द करने लगता, कभी-कभी तो इतना कि वे कई-कई घंटे कराहते रहते। उनकी चाल बहुत सुस्त हो गई थी। बारह बजे के मैटनी शो के लिए उन्हें दस बजे घर से निकलना पड़ता, जो उनके सिनेमा से सिर्फ़ दो किलोमीटर की दूरी पर था। इसके अलावा उनका पैर मौसम के प्रति अति संवेदनशील हो गया था और वे उसके संबंध में मौसम विभाग द्वारा की गई भविष्यवाणी से कहीं अधिक विश्वसनीय भविष्यवाणी कर सकते थे। सात तालों के भीतर बंद रहने के बाद भी सही-सही बता सकते थे कि आसमान में बादल हैं या नहीं, मौसम आमतौर पर सूखा रहेगा या गरज के साथ छींटें पड़ेंगे या कि उत्तर भारत की

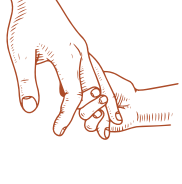

पहाड़ियों पर बर्फ पड़ेगी वगैरा। लेकिन वे अपनी इस अनायास प्राप्त हुई प्रतिभा का कोई फायदा नहीं उठा पाए, जबकि इस व्यवस्था में तो लोग हकलाने के भी पैसे पीट लेते हैं और वह भी हज़ारों-लाखों में। लेकिन पिता सिर्फ़ अपने काम पर लौटे। वह भी सिनेमा की ऑप्रेटरी, वेतन एक सौ पच्चीस रुपया, तीस रुपया मैटिनी शो चलाने का अलग से। फ़िल्म अगर सामान्य चौदह रील की हो तो काम सुबह के ग्यारह से रात के एक बजे तक, वरना फ़िल्म की लंबाई के अनुपात में कुछ और ज़्यादा। हारी-बीमारी में छुट्टियाँ प्रबंधक की दया पर। सुविधाओं के नाम पर केबिन के झरोखे से पिक्चर देखने की सहूलियत। मशीन में 'आर्क लाइट' के लिए उपयोग में आने वाली कार्बन छड़ें बचाकर चोरी से बेचकर ऊपर की कमाई और सिनेमा द्वारा दी एक लंबी चार सैल वाली टार्च, जिसे पिता बैटरी कहते और जिसके उजले प्रकाश-वृत में अंधेरी और काले बादलों की रात में घर की उड़ी छत भी देखी जा सकती थी। कभी-कभी छीड़ के समय मनोरंजन-कर देकर सिनेमा देखने का फ्री पास और इसके अलावा वितरक ओर से फ़िल्म के पच्चीस सप्ताह चलने पर इनाम और पार्टी, जिसमें पेस्ट्री भी मिलती थी। संयोग से इसकी जानकारी मुझे इस तरह हुई थी—

बात कब की है? याद नहीं, लेकिन इस बात को काफी अरसा हो गया है। मैं स्कूल जा रहा था तो पिता ने कोट की जेब में सहेजी पुड़िया निकालकर दिखाते हुए गर्वीली चमक के साथ मुझसे पूछा था, "क्या चीज़ है? रात दावत में मिली थी।"

"पेस्ट्री है, खाई क्यों नहीं, ले क्यों आए?"

"यह एक झीने-से कागज़ में लिपटी हुई थी, मेरी समझ में नहीं आया-सहुरी चाँदी के वरक की तरह कागज़ समेत खाई जाएगी या कागज़ निकालकर।"

तो वे अपनी छोटी पड़ी दर्द से कड़कती लेकिन मौसम के प्रति संवेदनशील टांग से प्रकाश टाकीज के सहायक मशीन-चालक के अपने काम पर चले गए, जिस काम में उन्होंने अपनी बारह साल की उमर से अब तक की सारी ज़िंदगी दी थी और जिसके वे निश्चय ही बहुत माहिर थे। नगर के सभी छविगृहों के मशीन चालक कभी न कभी उनके शागीर्द रह चुके थे। किसी भी सिनेमा की मशीन खराब होती तो सबसे पहले प्रकाश टाकीज के पंडित जी को ही बुलाया जाता और वे कोई न कोई जोड़-जुगत भिड़ाकर उसे चालू कर ही देते। वे इस फन के उस्ताद थे।

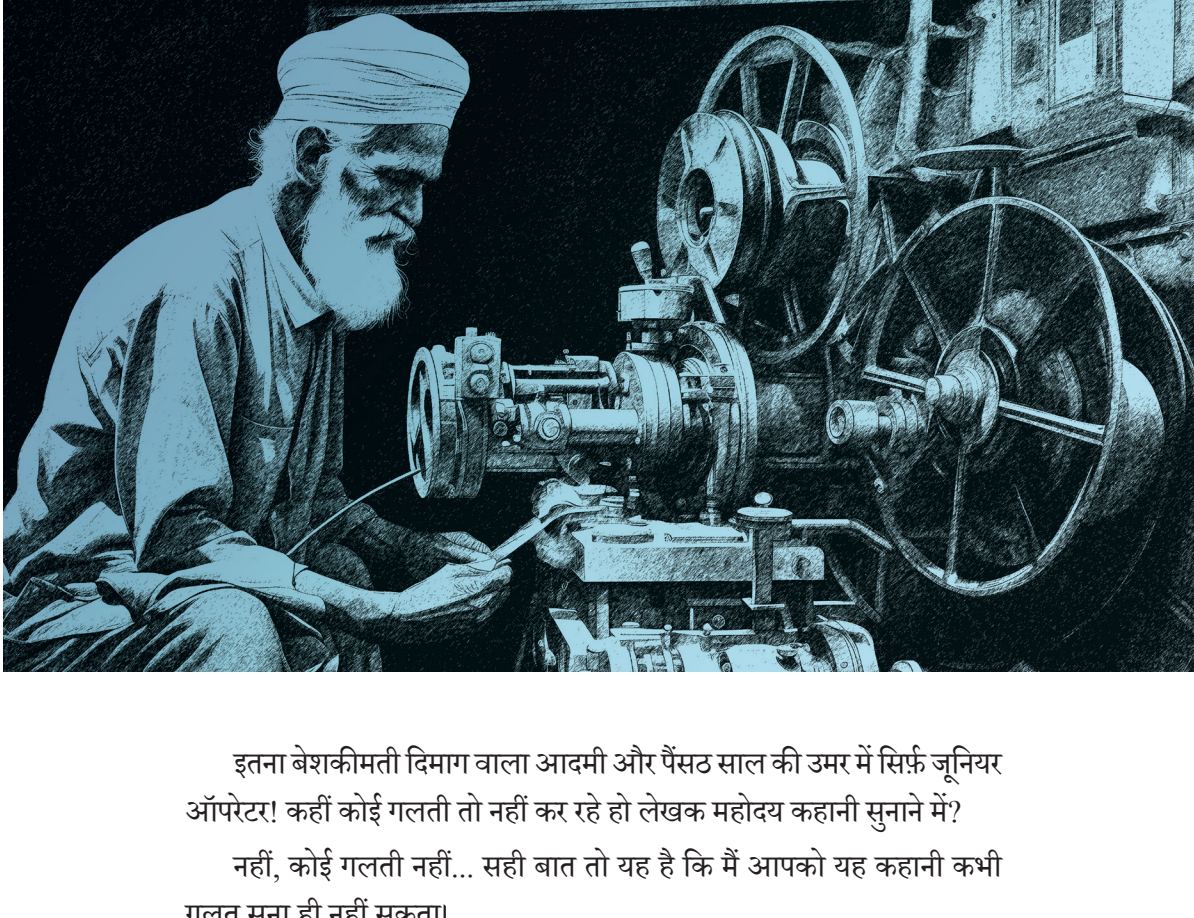

इतना बेशकीमती दिमाग वाला आदमी और पैंसठ साल की उमर में सिर्फ़ जूनियर ऑपरेटर! कहीं कोई गलती तो नहीं कर रहे हो लेखक महोदय कहानी सुनाने में?

नहीं, कोई गलती नहीं... सही बात तो यह है कि मैं आपको यह कहानी कभी गलत सुना ही नहीं सकता।

दरअसल थे तो वे सीनियर ऑपरेटर ही। लेकिन बात कुछ ऐसी हुई कि... पिता ने ही मुझे बताया था, हँसते हुए।

शासन की ओर से एक आदेश हुआ था कि उन सभी ऑपरेटरों को, जिन्होंने मशीन चालक का कोई विधिवत प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया है, एक जाँच समिति के सामने इंटरव्यू देकर प्रमाणपत्र प्राप्त करना होगा। नगर का कोई भी ऑपरेटर विधिवत रूप से प्रशिक्षित नहीं था। उन्होंने तो पंडित जी की शागिर्दी में ही मशीन चलाने का काम सीखा था। सभी के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और वे अपने भविष्य के प्रति चिंतित हो गए। सिवा पिता के, जो खलीफा बने घूम रहे थे। आखिर क्या तो

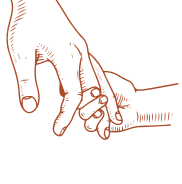

पूछ लेंगे? सिने-मशीन की रग-रग के साथ उनका ऐसा रिश्ता था, जैसा कभी अपनी औरत के साथ भी नहीं हो सका... वे हर दिन उसे चालू करने से पहले उसकी धूप-बत्ती करते थे...।

लेकिन आश्चर्य यह हुआ कि इस साक्षात्कार में जहाँ नगर के सभी ऑपरेटर, जो पिता के कभी न कभी शागिर्द रह चुके थे और वे भी जो इतने लद्दड़ थे कि अपनी आँख की कीच भी साफ़ नहीं कर सकते थे, पास हो गए थे और इतने तेजस्वी पिता फेल।

फेल क्यों हुए? यह बात आज तक उनकी समझ में नहीं आई। उन्होंने तो पूछे गए सवाल का सही जवाब दिया था।

उनसे उस साक्षात्कार में पूछा गया था कि केबिन के दो दरवाज़े हैं, एक पूरब की तरफ़ और दूसरा पच्छिम की। केबिन में पूरब की ओर से आग लग जाए तो तुम क्या करोगे?

यह सवाल बहुत सादा था जिसका जवाब कोई नासमझ बच्चा भी दे सकता था, उनके व्यक्तित्व के अनुरूप तो खैर यह कतई था ही नहीं। उन्होंने बहुत अन्यमनस्कता से किंतु विवेकसम्मत और घोर मानवीय उत्तर दिया था कि वे अपनी हिफ़ाज़त के लिए पच्छिम के दरवाज़े से भाग जाएँगे। उनके इस जवाब से कमीटी के थोबड़े लटक गए थे और उसने उन्हें फेल कर दिया था।

"स्सालों ने मुझे फेल क्यों किया?" पिता ने हँसते हुए मुझसे पूछा था।

"आपका जवाब होना चाहिए था कि मैं भागूँगा नहीं, बल्कि आग बुझाने की कोशिश करूँगा।"

"लेकिन यह झूठ होता। एक ऐसा आदमी जिसके सिर पर कच्चा कुनबा हो और उसके घर की छत तूफ़ान में उड़ने के लिए हर समय उतावली रहती हो, वह जोखिम उठाकर आग बुझाएगा कि बच्चों के लिए अपनी जान बचाने का उपाय करेगा। जवाब दो, आदमी बड़ा है कि मशीन और हिफ़ाज़त किस की होनी चाहिए...?"

उनका तर्क वज़नदार और शायद सही भी था लेकिन वे फेल कर दिए गए थे और इसी के साथ उनके व्यावसायिक जीवन का पतन शुरू हुआ था। उनकी शानदार सेवा को ध्यान में रखते हुए उनकी तनख्वाह तो कम नहीं की गई लेकिन उनके सहायक रग्घू को, जो हीटर पर उनका खाना गरम करता था, सीनियर ऑपरेटर

बना दिया गया क्योंकि वह उस इन्टरव्यू में पास हुआ था और उन्हें उसके अधीन सहायक। सहायक बनकर वे रग्घू को हीटर पर खाना गरम करके खिलाने लगे थे। इस हादसे का उन पर क्या असर हुआ होगा? हमें यह कभी पता नहीं चल सका। वे बहुत सहज आदमी थे, निष्कपट और मुँहफट, लेकिन उनके भीतर के दर्द को समझ पाना दुष्कर था। दरअसल दुखों को चुपचाप अपनी आत्मा में पी लेने का उनमें अद्भुत माद्दा था। वे शिवजी की तरह गरलपान करके सहज रह सकते थे...।

बात तब की है जब मैं काफी छोटा था, हालाँकि हमारे घर में बच्चे कभी छोटे नहीं होते थे। माँ के शब्द डाका डालकर बच्चों से उनका बचपन छीन लेते थे। घर में किसी के साथ ऐसी बात रही हो या न रही हो, लेकिन मेरे साथ तो ऐसा ही कुछ था क्योंकि मैं घर का बड़ा बेटा था, जिसे उसकी गिरती हुई दीवारें थामनी थी। मेरा बचपन कब और कहाँ खो गया था, इसका मुझे कभी पता ही नहीं चला। माँ मेरे लिए कभी माँ नहीं हो सकी और न पिता कभी पिता हो सके, हालाँकि उनके प्रति मेरे भीतर एक हमदर्दी का तरल-सा भाव था और उनके संघर्षों के लिए मेरे मन में हर समय एक अपराध-बोध-सा रहता। गरीबी में ज़िंदगी गुजारना मेरे ख्याल से शायद इतना मुश्किल नहीं होता, जितना अपराध-बोध के साथ जीना, जबकि आप अपराधी नहीं होते।

उन दिनों घर गुल्लो की महक से महकता था। उसकी उम्र चार साल की थी पर उसका जादू घर के सिर पर चढ़कर बोलता था। वह इतनी मोहक और सुहावनी थी कि उसने आए संकटों पर अपने सम्मोहन का झीना, कोमल और सुनहरा आवरण फैला दिया था। पिता की तो वह आत्मा में बस गई थी। सुबह जब वे नगरपालिका के बरमे से पानी भरते तब भी वह उनके कंधे पर शान से सवार रहती। खाना खाते समय पता ही नहीं चलता था कि पिता उसे खाना खिला रहे होते या वह अपनी नन्ही उंगलियों से पिता को खाना खिला रही होती। हालाँकि हमारी आर्थिक स्थिति के लिहाज़ से यह कतई शोभनीय नहीं था, पर उसके लिए एक चाँदी की पतली-सी पाजेब गढ़वाई गई थी, जिसे अपनी आदत के अनुसार माँ ने भीड़ वक्त के लिए संभाल कर नहीं रख लिया था, वह गुल्लो के पैरों में बजती रहती थी।

दिन में तो वह एकदम ठीक थी और उसकी शरारतों से घर चहक रहा था, लेकिन शाम को वह एकाएक सुस्त गई, उसकी आँखें झिपने लगीं और अकस्मात

उसके गुलाबी चेहरे पर राख की एक परत-सी फैल गई। माँ उसकी हालत देखकर एकाएक बहुत गंभीर हो गई और उसने उसे अपनी गोद में दुबका लिया। घर एकाएक बहुत उदास हो गया। एक बेचैन किस्म की चुप्पी छा गई, जिसमें सिर्फ़ हमारी धड़कने थीं और माँ के प्रार्थना में हिलते होंठ थे।

हमारे धार में मौत कुछ इसी तरह आती थी। दबे पैर। चुपचाप।

इससे पहले चार-मौतें हो चुकी थीं, जिनकी मुझे हल्की-सी याद थी। ये सब माँ की गोद में हुई थीं, उसकी प्रार्थनाओं के दौरान। फिर भी प्रार्थनाओं से उसका विश्वास कभी नहीं डिगा। उसे उम्मीद रहती कि आँसू भरे हृदय की सच्ची प्रार्थनाएँ मौत का रास्ता रोक सकती हैं... शायद आर्थिक लाचारी में प्रार्थनाएँ ही उसका एकमात्र और सम्मानजनक विकल्प था। वह पलक भी नहीं झपका रही थी। उसने कभी मुझे बताया था कि माँ के जागते हुए मौत उससे उसके बच्चे को छीनने की हिम्मत नहीं करती... वह माँ की झपकी का इंतज़ार करती है। पिछले चार बच्चे उसकी झपकी के दौरान ही मौत ने उससे छीने थे। इस बार वह यह गलती करने को कतई तैयार नहीं थी और उसकी आँखें काँच के मारतोल की तरह पारदर्शी पर थिर थीं।

लेकिन गुल्लो की हालत लगातार गिर रही थी। जब चम्मच से उसके गले में दूध डालने के बाद वापस लौट गया तो अपनी उम्र के बावजूद मुझे लगा कि वह अब हमारे हाथ से जाने वाली है। मैं पूजा स्थल पर कड़ुए तेल का दिया जलाकर भाव विह्वल स्वर में हनुमान जी को सुमरने लगा, हालाँकि दर्जा पाँच की बोर्ड की परीक्षा में उन्होंने मुझे धोखा दे दिया था, श्रद्धा के साथ हनुमानचालीसा का पाठ करने के बाद भी परीक्षा में मुझसे लंगड़ी भिन्न का सवाल हल नहीं हुआ था। फिर भी मुझे विश्वास था कि सूरज को गेंद की तरह निगल सकने वाले हनुमान जी मेरी प्रार्थना अवश्य सुनेंगे और गुल्लो के प्राणों की रक्षा कर लेंगे... बस सच्चे मन से प्रार्थना करनी होगी। यह प्रार्थना मैंने बदन के सिहरन भरे ओज और छलकती आँखों की करुणा के साथ की थी। ऐसी आस्था, विश्वास, करुणा और ओज से भरी प्रार्थना मैं इसके बाद कभी नहीं कर सका। लेकिन मेरी प्रार्थना के बाद भी गुल्लो की हालत में कोई सुधार नहीं हुआ।

रात को पिता लौटे तो उन्होंने गुल्लो की हालत देखकर पूजा-स्थल से राख की एक चुटकी निकालकर कोई मंत्र पढ़ा, जिससे उनका शरीर जूड़ी के मरीज की तरह

काँपने लगा। मंत्र पढ़कर उनकी आँखों में एक चमक आई और वे बोले, "कोई ऊपरी छाया थी, उसे मैंने अपनी मंत्र की शक्ति से भगा दिया है। गुल्लो बस पाँच मिनट में ठीक होती है।" उन्होंने उसके माथे पर राख का टीका लगाया और मुँह खोलकर थोड़ी-सी राख उसकी जीभ पर रख दी।

बीमारी का इलाज हमारे यहाँ ऐसे ही किया जाता था। पूजा की मंत्रसिद्ध राख से। डॉक्टरों पर पिता का विश्वास नहीं था। अगर रहा भी होगा तो हमारी आर्थिक स्थिति में हमारे यहाँ उनके लिए कोई जगह नहीं थी।

पिता की मंत्रसिद्ध राख गुल्लो के किसी काम नहीं आई और उसकी हालत लगातार गिरती चली गई। सुबह तक उसका शरीर ऐसा हो गया मानो वह राख हो। विश्वास की क्षीण रेखा अगर कहीं टिकी थी तो सिर्फ़ इस बात पर कि उस राख में अभी तपिश थी। माँ सुबकने लगी तो पिता ने कहा, "अरे रोती क्यों हो? सब ठीक हो जाएगा। हमने आज तक कभी किसी का बुरा नहीं किया, फिर हमारा बुरा क्यों होगा।"

"तुम्हारे इस झूठे विश्वास पर मैं अपने चार बच्चे खो चुकी हूँ।" माँ ने विद्रोह कर दिया। यह शायद पिता के विरूद्ध माँ का पहला और अंतिम विद्रोह था...।

पता नहीं वे इसे जान गए थे या नहीं, लेकिन उन्होंने माँ को तसल्ली देते हुए कहा था, "अच्छा ठीक है, बड़े अस्पताल चलते हैं। कुछ रुपये होंगे तेरे पास...।"

माँ ने बिना कुछ कहे झुककर चुपचाप गुल्लो के पैर में बँधी पायल खोलकर पिता के हाथ में टिका दी थी। गुल्लो की पायल बेचकर हम उसे अस्पताल ले गए थे। लेकिन हमारा सारा संघर्ष किसी काम नहीं आ सका। अस्पताल उसे नहीं बचा सका। उसे डिप्थिरिया हो गया था। छोटे से समय में सारा खेल खत्म हो गया।

आगे-आगे गुल्लो की लाश थामें पिता थे, जिनके चेहरे पर अपनी सबसे प्रिय के खो जाने का कोई मलाल नहीं था, उनके पीछे सिर झुकाए मैं था और मेरे पीछे एकदम टूटी, पस्त और अवसन्न माँ थी और हम अस्पताल से घर तक का रास्ता पैदल तय कर रहे थे। मैं उनकी इस निर्ममता से बुरी तरह से बौखला गया था और तमाम उम्र उनके इस निर्दयी चेहरे को नहीं भूल सका था। लेकिन यह निर्ममता नहीं, दुखों को चुपचाप पी सकने का उनका अद्‌भूत चरित्र था।

"लेकिन मैं वह पुल कभी पार नहीं कर सका। आदमी पूरी हिम्मत और मेहनत से काम करे और फिर भी उससे पुल पार न हो तो उसकी कोई वज़ह तो ज़रूर

होनी चाहिए...।" उन्होंने आगे कहा और उनके चेहरे की झुर्रियाँ थरथराने लगीं।

"हाँ वज़ह तो ज़रूर है।" मैंने जवाब दिया।

"क्या तू उसे जानता है?" उन्होंने पूछा।

"जानता तो हूँ, लेकिन...।"

"मैं उसे जानना चाहता हूँ जिससे मैं इस विश्वास के साथ मर सकूँ कि जो पुल मैं पार नहीं कर सका उसे कभी मेरा बेटा पार कर लेगा...।"

"आपने ही कभी मुझे बताया था कि..." मैंने झिझकते हुए कहा और फिर सहसा चुप होकर उनका चेहरा देखने लगा जहाँ अब सिर्फ़ उनका चेहरा ही नहीं, उनके जैसे पता नहीं कितने चेहरे थे। और शायद जो मैं बताने जा रहा था, वह सिर्फ़ पिता का सच नहीं उन सभी चेहरों का सच था, जो इस समय उनके चेहरे पर चस्पा थे। लेकिन पिता को अपनी यात्रा के अंतिम पड़ाव को बहुत सहजता और शांति के साथ पूरा करना चाहिए, यह सोचकर मैं रुक गया।

"क्या बताया था मैंने?" उन्होंने आतुरता से पूछा, "यह जानकर मेरा बोझ हल्का हो जाएगा।"

"आपको एक का पहाड़ा नहीं आता। यही वज़ह है कि आप उस पुल को पार नहीं कर सके, जिसे आप पार करना चाहते थे।"

यह निर्मम सच्चाई कभी उन्होंने ही मुझे बताई थी।

वे पढ़ाई में बहुत होशियार थे। अपने शिक्षाकाल में हर वक्त पढ़ते ही रहते थे। खेल के मैदान से उनका कोई वास्ता नहीं था। उनके साथी खेलते लेकिन वे पढ़ते रहते। शिक्षक उनके भविष्य के प्रति पूरी तरह आश्वस्त रहते और उन्हें उदाहरण की तरह पेश करते। बात तब की है जब वे दर्जा चार में थे और स्कूल का इंस्पेक्टर मुआयने पर आया था। उनके सामने पिता को स्कूल के सर्वाधिक योग्य और चमकीले छात्र की तरह प्रस्तुत किया गया था। दर्जा चार का यह बच्चा हमारे विद्यालय का सबसे होनहार, विनम्र और आज्ञाकारी लड़का है। इसे बीस तक पहाड़े, अद्धे, पौने, सवय्ये, डेढ़े वगैरह याद हैं।

इंस्पेक्टर ने बेसिक प्राइमरी पाठशाला के इस होनहार छात्र की ओर प्रशंसित दृष्टि के साथ देखा, जिसकी आँखों में कीच जमा थी, बाल सीही के बालों की तरह

नोकिले थे, कमीज-निकर मुचड़े हुए थे और पैर नंगे थे।

"तू बीस तक पहाड़े, अद्धे, पौने, सवय्ये, डेढ़े जानता है।"

"जी श्रीमान।"

वे मुस्कुराते हुए बोले, "शाबास, अच्छा तो बेटे एक का पहाड़ा सुना।"

स्कूल की निगाह उन पर टिकी हुई थी और कान उनसे एक का पहाड़ा सुनने को आतुर थे। लेकिन यह क्या उनके मुँह से तो आवाज़ ही नहीं निकल रही थी।

"नहीं आता?"

"श्रीमानजी एक का पहाड़ा तो कभी स्कूल में सिखाया ही नहीं गया।"

इस शर्मनाक वाकये के बाद पिता ने पहाड़े की अनेक पुस्तकों में एक का पहाड़ा खोजा। वह उन्हें कहीं नहीं मिला। वे तमाम उम्र इसे नहीं सीख सके जिस वज़ह से वे उस पुल को पार नहीं कर सके जिसे वे पार करना चाहते थे।

"तेरी ये बात तो सही है। मुझे एक का पहाड़ा कभी नहीं आया। यह किताबों में भी नहीं मिलता और न हमारे वक्त इसे स्कूल में पढ़ाया जाता था। पर क्या तू इसे जानता है?"

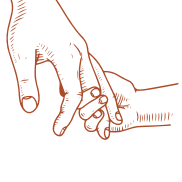

"हाँ, मैं इसे जानता हूँ। बहुत आसान है। एक इकम एक, एक दुनी दो, एक तीए तीन..." मैंने गर्वीली चमक और नयी पीढ़ी की पिछली पीढ़ी पर विजय के उल्लास के साथ कहा।

उनकी आँखें, जो फटे दूध की तरह गदला गई थीं, कुछ देर तक मेरे चेहरे पर टिकी रहीं। फिर उन्होंने बहुत आहिस्ता से कहा, "नहीं एक का पहाड़ा तो तुझे भी नहीं आया। तूने जो सुनाया यह तो गिनती है, पहाड़ा नहीं..." इस दरम्यान उनकी आँख एक बार भी नहीं झपकी थी, लेकिन उनका स्वर आखिर तक आते-आते पूरी तरह टूट गया था।

संवाद

1. कहानी में पिता साक्षात्कार में फेल क्यों हो गए?
2. बीमार मूल्यों को बचाने के लिए पिता की जगह आप होते तो क्या करते?

बूढ़े अपना ज़िक्र नहीं करते

— लीलाधर जगूड़ी

लीलाधर जगूड़ी की कविता 'बूढ़े अपना ज़िक्र नहीं करते' में तीन पीढ़ियों की बात कही गई है। कविता में एक ऐसा पिता है जो अपने को धीरे-धीरे एकदम अपने पिता जैसा देखता है और अपने बेटे से कहता है कि बूढ़े होकर तुम मुझे अपने आप में देखोगे। कवि पीढ़ियों के द्वंद्व का दिखाते हुए कहता है कि बूढ़े पिता अनुभवों की चर्चा तो करते हैं परंतु नयी पीढ़ी के वर्तमान स्वरूप में अपनी भूमिका की बात नहीं करते।

जब बच्चा था लोग कहते थे माँ पर पड़ा है
थोड़ा बड़ा हुआ कहने लगे वही अक्ल वही शक्ल
एकदम दादा पर पड़ा है
मेरी नानी देखती थी मुझमें नाना और मामाओं की झलक

जब मैं युवा हुआ लोग कहने लगे
बिल्कुल बाप पर गया है

ज्यों-ज्यों मैं प्रौढ़ होता गया
मुझे दिखाई देने लगे अपने हाथ
बिल्कुल पिता के हाथों जैसे
झंझटों में पड़े हुए सुडौल

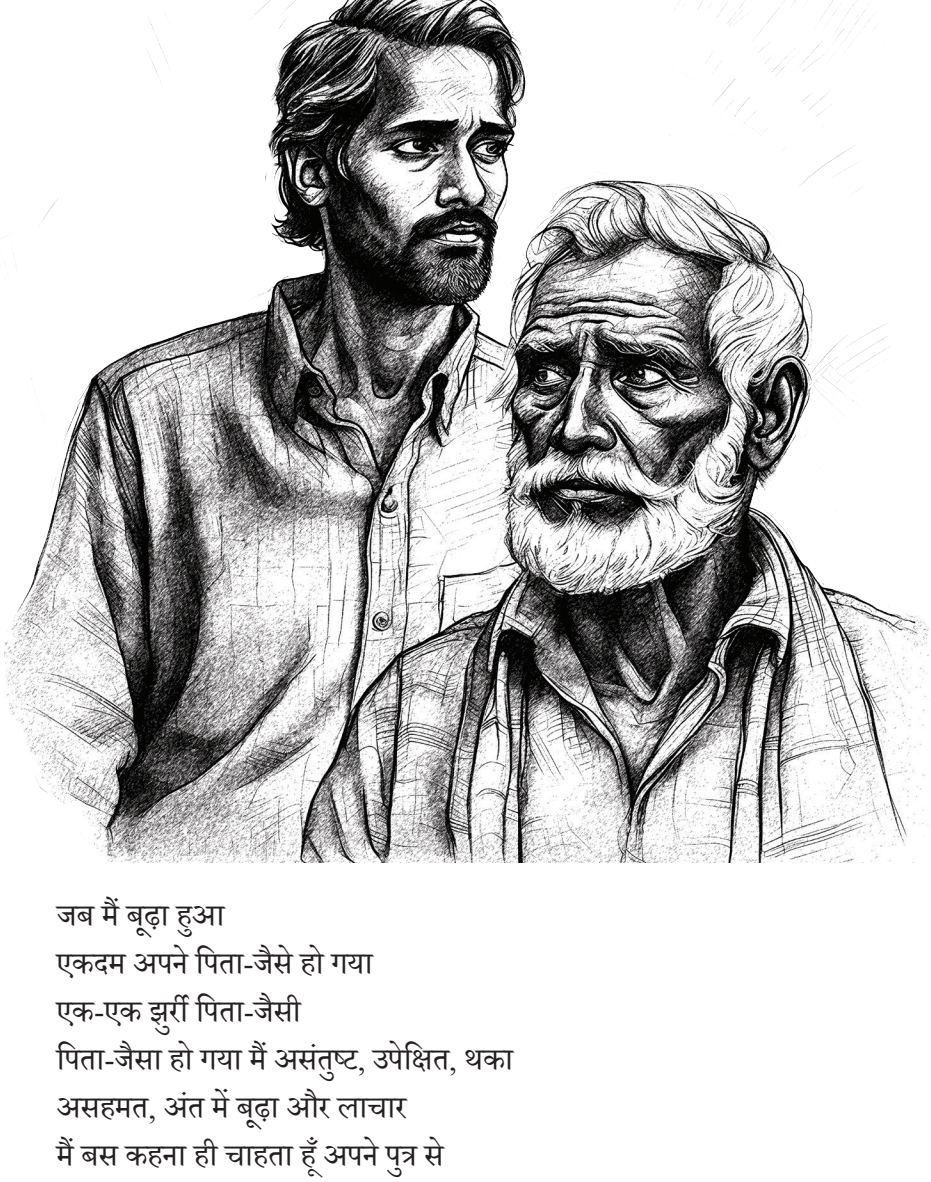

जब मैं बूढ़ा हुआ
एकदम अपने पिता-जैसे हो गया
एक-एक झुर्री पिता-जैसी
पिता-जैसा हो गया मैं असंतुष्ट, उपेक्षित, थका
असहमत, अंत में बूढ़ा और लाचार
मैं बस कहना ही चाहता हूँ अपने पुत्र से
कि तुम क्या युवा हो
बूढ़ा होकर देखोगे तुम मुझे अपने आप में
तब पता लगेगा क्या-क्या नहीं किया है मैंने

क्या होना चाहिए था मुझ युवा को
क्या होना चाहिए था तुम युवा को
जब मैं युवा था तब भी समझता था खुद को उपेक्षित
असंतुष्ट थका और असहमत
सिर्फ़ स्नायुओं में फ़र्क पाता हूँ मैं
युवा गलती करते हैं बूढ़े सिर्फ़ सुधार चाहते हैं
बूढ़े गलती का साहस खो बैठते हैं युवा खो बैठते हैं धीरज
बूढ़े सब कुछ ठीक-ठाक करना चाहते हैं
अपने अस्सी-नब्बे साल का हवाला देते हुए

जब भी बरबादी का खतरा बताया जाता है
बूढ़े कभी अपना ज़िक्र नहीं करते, सिर्फ़ तजुर्बों का ज़िक्र करते हैं।

संवाद

1. आप अपने आस-पास या घर में किसी बुजुर्ग को देखते हैं तो कैसा अनुभव करते हैं?
2. आपको सुधार या आमूलचूल परिवर्तन में क्या अधिक ठीक लगता है?

बेटी की विदाई

— राजेश जोशी

राजेश जोशी की इस कविता में बेटी की विदाई के बाद पिता की स्थिति का वर्णन किया गया है। सामान्यतया पिता को कठोर और मज़बूत माना जाता है परंतु बेटी की बात आने पर हर एक पिता कितना तरल हो जाता है, यह इस कविता में नज़र आता है। कविता में चार पिता हैं, चारों की बेटियाँ हैं और एक बेटी की विदाई को देखते हुए चारों रो रहे हैं। वे जानते हैं कि बेटी के जाने के बाद घर ऐसा हो जाएगा जैसे बिना चिड़ियों की सुबह।

वे तीनों अलग-अलग शहरों से चौथे दोस्त की बेटी के ब्याह में आए थे
और कई दिनों बाद इस तरह इकट्ठे हुए थे

इस समय जब दोपहर लगभग ढल रही थी
तीनों घर के सामने के पेड़ की छाँव में
बैठे हुए थे
और चौथे की बेटी की विदाई हो रही थी

अभी कुछ देर पहले तक वे हँस रहे थे और आपस में बतिया रहे थे
अब चौथे की बेटी लगभग घर के दरवाज़े पर आ पहुँची थी
और रस्म के अनुसार कोई मखाने और पैसे फेंक रहा था

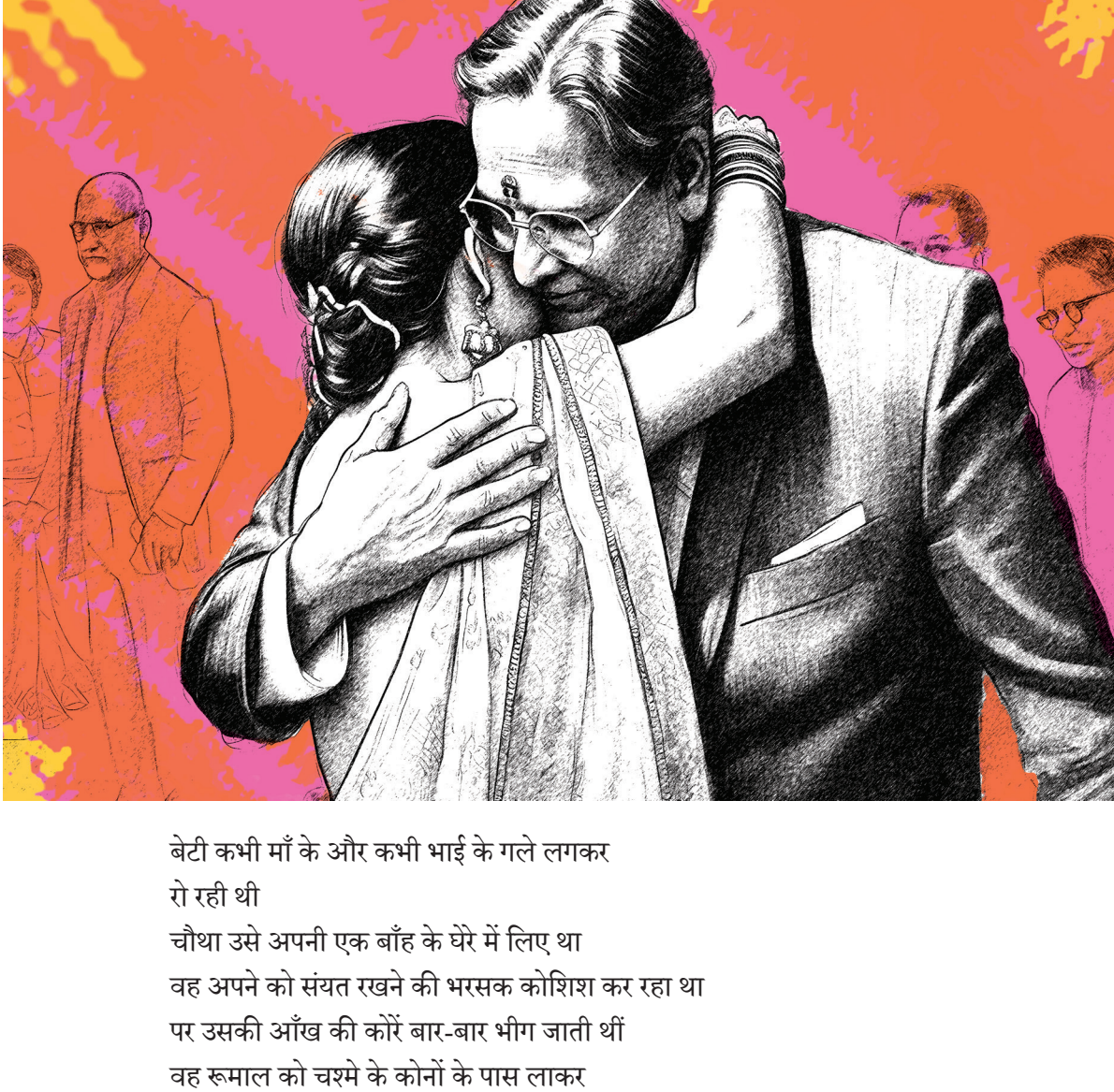

बेटी कभी माँ के और कभी भाई के गले लगकर
रो रही थी
चौथा उसे अपनी एक बाँह के घेरे में लिए था
वह अपने को संयत रखने की भरसक कोशिश कर रहा था
पर उसकी आँख की कोरें बार-बार भीग जाती थीं
वह रूमाल को चश्मे के कोनों के पास लाकर
चुपके से उन्हें पोंछ लेता था
वह घर के सामने बैठे तीनों दोस्तों की ओर
देखने से बच रहा था

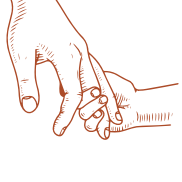

तीनों दोस्त एकाएक चुप से हो गए थे
जैसे अचानक उनकी सारी बातें खत्म हो गई हों
इनमें से एक की बेटी का ब्याह दस दिन बाद था
और दूसरे की बेटी का ग्यारह दिन बाद
थोड़ी देर पहले दोनों इसी बात पर अफ़सोस कर रहे थे
कि वे शामिल नहीं हो पाएँगे एक-दूसरे की बेटी के ब्याह में
तीसरे की बेटी अभी कॉलेज में पढ़ रही थी

चौथे की बेटी लगभग घर की देहरी तक आ चुकी थी
तीनों दोस्त बीच-बीच में चौथे की तरफ़ देखते थे
चौथा तीनों से अपनी आँख चुरा रहा था
तीनों में जो सबसे ज़्यादा अनुभवी था कह रहा था
कि अभी तो चौथा अपने को बहुत सँभाले हुए है
लेकिन बिदा के बाद इसे संभालना होगा

तीनों दोस्त चुप थे
और एक-दूसरे से अपना रोना छिपा रहे थे
तीनों एक-दूसरे से नज़र चुराते हुए किसी न किसी बहाने
चुपचाप पोंछ लेते थे बार-बार भीग जातीं
आँखों की कोरों को
चौथे की बेटी की विदाई में देख रहे तीनों
अपनी बेटी को बिदा होते

तुमने देखा है कभी
बेटी के जाने के बाद का कोई घर?
जैसे बिना चिड़ियों की सुबह
जैसे बिना तारों का आकाश

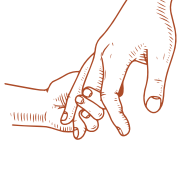

बेटियाँ इतनी एक-सी होती हैं
कि एक की बेटी में दिखती है दूसरे को अपनी बेटी की शक्ल
चौथे की बेटी जब बैठकर चली गई कार में
तो लगा जैसे ब्रह्मांड में कोई आवाज़ नहीं बची
एकाएक अपनी उम्र लगी हम सबको,
अपनी उम्र से कुछ ज़्यादा।

संवाद

1. इस कविता की उन पंक्तियों को छाँटिए जिनसे व्यक्त होता है कि पिता बेटी के बिछोह की बात सोचकर ही बहुत व्याकुल है।
2. अपने किसी ऐसे अनुभव को साझा करें जब आपके पिता आपके कहीं जाने की बात सुनकर बहुत व्यथित हुए हों—
   (क) छात्रावास जाने की बात
   (ख) बीमार पड़ने पर
   (ग) दूसरे शहर किसी शैक्षणिक भ्रमण/ प्रतियोगिता आदि के लिए
   (घ) दोस्तों से झगड़ा होने पर

पिताजी का समय

— स्वयं प्रकाश

स्वयं प्रकाश की कहानी 'पिताजी का समय' विगत पीढ़ी और नयी पीढ़ी के द्वंद्व की कहानी है। कहानी में तीसरी पीढ़ी के बच्चे इस द्वंद्व को और तीखा करते हैं। पिताजी का यह सोचना कि यह घर अब उनका नहीं रहा, विडंबना का द्योतक है। लेखक का संकेत स्पष्ट है कि नए समय के बदलावों को स्वीकारना ही सबके लिए उचित है।

अपने घर में मैं परम स्वतंत्र था। जैसे चाहे रहता, जो चाहे करता। मर्ज़ी आती जहाँ जूते फेंक देता, मन करता जहाँ कपड़े। जगह-जगह मेरी किताबें बिखरी रहतीं और लगभग हर कमरे में मेरी चीज़ें। कभी अचानक कहीं जाना-आना होता तो मुझसे उस घर में मेरी कोई चीज़ नहीं ढूँढ़ी जाती। हर चीज़ मुझे माँ ढूँढ़ कर देती। मेरे जाने के बाद वह सारे घर से मेरी किताबें-कॉपियाँ, कपड़े, जूते, चप्पल, खिलौने दूसरी वस्तुएँ समेटकर मेरे कमरे में रखती। लेकिन मेरे कमरे में किसी चीज़ की कोई निश्चित जगह नहीं होती। कमीज़ तकिए के नीचे तो किताब पलंग के पीछे। मोज़े संदूक के नीचे तो घड़ी बाथरूम की शेल्फ पर। माँ ही मेरे कमरे की सफ़ाई भी करती। इतने घनघोर में वह सफ़ाई पता नहीं किस तरकीब से करती। मेरे लिए तो यह असंभव ही होता।

यह लेकिन बचपन की बात है।

लड़कपन में चीज़ें बदल गईं। किसी एक लड़कदिन मैं अपनी किसी चीज़ को ढूँढ़ रहा था और उसके न मिलने पर माँ पर चिल्ला रहा था। तब पिताजी ने मुझे

डाँटा था। उस पर क्या चिल्ला रहा है? जगह पर नहीं रख सकता अपनी चीज़ें? क्या वह तेरी नौकर है?

पिता वैसे भी कम बोलते थे। मुझसे तो बहुत ही कम बोलते थे। मेरे बारे में अधिकांश सूचनाएँ वह माँ से प्राप्त करते थे— राकेश चला गया? राकेश आ गया? राकेश ने खाना खा लिया? राकेश सो गया? मुझसे वह किसी काम को भी नहीं कहते थे। मेरी स्वस्ति और स्वास्थ्य की, मेरी प्रसन्नता-अप्रसन्नता की पूरी चिंता करते हुए भी, मेरी गतिविधियों का, मेरे बड़े होते जाने का और मेरी बदलती ज़रूरतों का यथासंभव पूरा ध्यान रखते हुए भी उनका मुझसे सीधा संवाद बहुत कम था। लगभग नहीं ही था। पिताजी को मेरे चरित्र की चिंता रहती थी कि वह बिगड़ न जाए। वह चाहते थे, माँ मेरे चरित्र पर नज़र रखे और वह बिगड़ता नज़र आए, मसलन पता चले कि मैं दोस्तों के साथ सिनेमा देखने लगा हूँ, तो तुरंत पिता को सूचित करे।

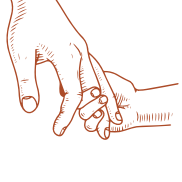

मैं अपनी ज़रूरतों के बारे में भी माँ को ही बताता था। माँ पिताजी को। पिताजी मेरे लिए जो चीज़ें लाते, माँ को देते, माँ मुझे। यदि मुझे फीस जमा करनी है तो मैं माँ से कहूँगा, माँ पिताजी से, पिताजी माँ को पैसे दे देंगे और माँ मुझे। फीस जमा कराकर मैं रसीद माँ को दूँगा, माँ पिताजी को, पिताजी देखकर माँ को लौटा देंगे और माँ कहीं संभालकर रख लेगी। इंकार और इसरार भी इसी तरह माँ के माध्यम से ही होते थे। "उससे कहना अभी रुक जाए", "उससे कहना इन फालतू चीज़ों पर पैसे बिगाड़ने की बजाय अपनी पढ़ाई पर ध्यान दे।" अब इसमें दाद-फरियाद की कोई गुंजाइश नहीं थी। कभी मैं ज़िद करता किसी चीज़ के लिए तो माँ पिताजी से कहती, "वो कह रहा है ज़रूरी है" या "वो कह रहा है ये दिला दो तो फिर वो नहीं लूँगा।" पिताजी ऐसी फरियादें चुपचाप सुन लेते और मान जाते। मुतमइन न होने के बावजूद कहीं से पैसा लाकर माँ के हाथ पर रख देते। कहाँ से? मुझे नहीं मालूम। कभी मालूम करने की कोशिश भी नहीं की।

पिताजी से सीधी बात सिर्फ़ परीक्षा के दिनों में ही होती। जब भी मेरा पेपर होता शाम को वह ज़रूर पूछते, कैसा रहा? मैं कहता, ठीक रहा। पूरी परीक्षा-भर यह कैसा रहा, ठीक रहा, चलता रहता। न एक शब्द कम न एक शब्द ज़्यादा। फिर जब रिज़ल्ट आता, मैं प्रोग्रेस रिपोर्ट ले जाकर उन्हें दिखाता। यह काम माँ के मार्फ़त नहीं किया जा सकता था। वह चश्मा पहनकर बड़े ध्यान से प्रोग्रेस रिपोर्ट देखते और लौटा देते— शाबाश! खूब मेहनत करो।

बस! नंबर चाहे कम हों चाहे ज़्यादा। नंबर अक्सर अच्छे ही आते। पर मुझे लगता, इतनी मेहनत करना बेकार ही गया। कोई भी तो खुश नहीं होता। एक बार एक पेपर में जान-बूझकर लापरवाही की और काफी कम नंबर आए। देखें अब पिताजी क्या कहते हैं। प्रोग्रेस रिपोर्ट दिखाते समय धक-धक। हाँ, वह उस जगह अटके, पर बस, और कुछ नहीं। वही, शाबाश, खूब मेहनत करो। जी किया, माँ से पूछूँगा, इस बार मेरे रिज़ल्ट पर पिताजी ने क्या प्रतिक्रिया व्यक्त की? नहीं पूछा। जाने दो। जब इनको ही कोई फ़र्क नहीं पड़ता तो मैं ही क्यों पूछूँ?

इसीलिए पिताजी की डाँट का असर हुआ। मैंने अपना घर अपने कमरे में ही समेट लिया। सारे घर से बीन-बटोरकर अपनी चीज़ें ले आया और कमरे में ठूँस लीं। तब ध्यान आया कि यहाँ काफी अराजकता और अव्यवस्था है। एक दिन

डटकर-जुटकर अपने कमरे की सफ़ाई कर डाली और सारा कमरा अपने हिसाब से जमाया। अपनी सुविधा के हिसाब से। किताबें, कपड़े, जूते, बिस्तर सब। उस दिन मेरे कमरे से आधा सेर धूल-मिट्टी और मैले कपड़ों का एक ढेर निकला। ये ऐसी जगह दबे-छिपे थे कि माँ को भी दिखाई नहीं दिए थे। बाहर नल पर जाकर सारे कपड़े धो डाले और रस्सी पर डाल दिए। माँ चुपचाप देखती रही। पहली बार कपड़े धोए थे, अच्छे नहीं धुले थे, पर माँ ने यह नहीं कहा– छोड़ दे, मैं धो दूँगी। वह कहती भी तो मैं छोड़ता नहीं। फिर मैं अपने कमरे में आकर पलंग पर लेट गया। यह दिन का समय था और पिताजी घर पर नहीं थे। ऐसे समय मुझे लेटना होता तो मैं या तो माँ के कमरे में या ड्राइंगरूम के दीवान पर वहाँ के गाव-तकियों की सारी व्यवस्था बिगाड़ते हुए लेटा करता था। पर आज अपने कमरे में ही लेटा। वहाँ काफी ठंडक और अँधेरा था। मैंने सोचा, काश! कमरे के पीछे की तरफ़ एक खिड़की और होती जहाँ से मैं पलंग पर लेटा-लेटा ही बाहर का दृश्य देख सकता। नीम का पेड़ और गिलहरियाँ... गाय का रंभाना और दूर किसी लड़की का दौड़ना... चील की ऊँची उड़ान और दूर तक पसरे ऊँघते खेत! मैंने माँ को मेरे कपड़े धोने और मेरा कमरा साफ़ करने को मना कर दिया। उसने मान लिया। शायद उसने सोचा होगा, लड़का कमरे में कोई प्रेमपत्र या सिनेमा के गानों की किताब वगैरह पकड़े जाने से शर्माता होगा। ऐसी कोई बात नहीं थी। तो कमरा अस्त-व्यस्त रहता। चीज़ें समय पर नहीं मिलतीं। पर फिर थोड़ा ढूँढ़ने पर मिल भी जातीं। हफ्ते में एक बार तो मैं सफ़ाई कर ही लेता।

धीरे-धीरे कमरा मेरा और मैं कमरे का अभ्यस्त हो गया। पत्रिकाओं से चित्र काटकर मैंने दीवारों पर चिपका लिए। पिताजी को यकीनन यह पसंद नहीं आता। पर वह क्या कर सकते थे? कमरा तो मेरा था।

पिताजी की दुनिया वैसी ही चुप और दूरस्थ थी। मेरी पहुँच से परे। माँ की मार्फ़त। पहले मेरे दोस्त सीधे ड्राइंगरूम से ही आते। 'नमस्ते चाचाजी' आदि करते हुए। अब वे पीछे के दरवाज़े से सीधे मेरे कमरे में आ जाते, बगैर 'नमस्ते चाचाजी' आदि की बाधा पार किए। यदि एक से अधिक दोस्त होते और कुछ गाना-बजाना, हँसी-मज़ाक या लड़कियों की बातें, जैसा कुछ होता तो मैं धीरे से दरवाज़ा उढ़का देता। माँ तो आ ही सकती है, और बात पिताजी तक पहुँच सकती है। माँ दोस्तों के लिए पोहे बनाती तो दरवाज़े के बाहर तक लाकर खड़ी हो जाती। मुझे पुकारती और ट्रे पकड़ा देती। भीतर नहीं आती।

मैं अपने घर की अपने दोस्तों के घर से तुलना करता। मेरे सारे दोस्तों के घर में अलग तरह का माहौल था। वहाँ हमें बड़ों से छिपकर बातें नहीं करनी पड़ती थीं। वहाँ बड़े हमारी बातों से डिस्टर्ब्ड महसूस करने की बजाय उनमें रुचि लेते थे। शायद रस भी। कितनी बार ऐसा भी होता था कि हम ड्राइंगरूम में ही बैठा लिए जाते और कॉलेज की गतिविधियों पर, राजनीति पर, समाज पर, किसी भी विषय पर खुलकर बात होती। हँसी-मज़ाक तक हो जाता। एक दोस्त के पिताजी तो घुसते ही पूछते, क्या खबर है आज की? वहाँ जाओ तो आज का अखबार देखकर जाना पड़ता। कभी-कभी दोस्तों की मम्मियाँ भी वहीं आकर बैठ जातीं। अपनी सब्जी काटती रहतीं, बुनाई करती रहतीं और बातों में भी हिस्सेदारी करतीं। कभी-कभी तो ऐसा भी होता कि मैं दोस्त के घर गया हूँ और दोस्त नहीं है तो भी मैं बाहर से ही लौटा नहीं दिया गया हूँ। अंदर बुला लिया गया हूँ और 'मम्मी' से या 'पापा' से बातों में उलझ गया हूँ और फिर दोस्त आ गया है या नहीं आया है तो भी मुझे यह नहीं लगा है कि अपना चक्कर फालतू गया।

बेशक, ऐसा माहौल सारे दोस्तों के यहाँ नहीं था। कुछ के ही यहाँ था। सच पूछो तो दो दोस्तों के यहाँ, जो अपेक्षाकृत संपन्न थे। एक के पिता डॉक्टर थे, दूसरे के रिटायर्ड इंजीनियर। बाकी दोस्तों के पिताओं को या तो मैंने देखा ही नहीं था या जब भी देखा था, परेशान ही देखा था। पता नहीं किसलिए। एकाध ने तो मेरे ही सामने दोस्त को डाँट दिया था। पर इन दो दोस्तों के घर का माहौल मुझे बहुत अच्छा लगता था, वहाँ की हर चीज़, और मैं सोचता था कि ऐसा माहौल हमारे घर में भी क्यों नहीं है?

हमारा घर तो खानों में बँटा हुआ था। अस्पृश्यता की तरह। एक घर में जैसे तीन घर। मेहमानों के लिए और पिताजी के लिए बैठक थी। वहाँ की किसी व्यवस्था पर माँ का दखल नहीं था। छोटी-से-छोटी चीज़ के लिए एक जगह निश्चित थी। कलम यहाँ तो कलम यहाँ... चश्मा वहाँ तो हमेशा चश्मा वहाँ। सब कुछ अँधेरे में भी मिल जाता था। घड़ी में चाभी भरने तक का समय निश्चित था। मेरा कमरा मेरा कमरा था और सारा कुछ जोड़-घटाने के बाद माँ के हिस्से में सिर्फ़ रसोई बचती थी। रसोई उसका साम्राज्य था। कहाँ क्या रखा है... उसी ने अपनी मर्ज़ी और सुविधा के हिसाब से। माँ अचार के मर्तबानों पर कपड़ा बाँधती थी और माचिस को हमेशा प्लास्टिक की खाली थैली में रखती थी। मटके के परिंडे पर कोने में हाथ धोने के लिए लोटा और चमचमाता डुबका कील पर टँगा। मैं कभी रसोई में जाऊँगा भी तो माँ की सारी चकाचक व्यवस्था बिगाड़ आऊँगा। पिताजी का तो रसोई में जाने का सवाल ही नहीं उठता था। रसोई की पूरपार मालकिन माँ थी। वह वहाँ मग्न रहती थीं। गुनगुनाती भी रहती हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

दोस्तों के घर की प्रेरणा ने उचकाया और एक दिन अपने घर की पुरातन चिरंतन व्यवस्था को मैं ताज़गी का एक स्पर्श-जैसा देने के षड़यंत्र में चुपचाप और अकेला लिप्त हो गया। किया फकत इतना कि हर चीज़ को मुकर्रर जगह पर रखने का ध्यान रखते हुए बैठक को चमका दिया। पीतल का कलमदान मिट्टी से रगड़ दिया, डिग्री लिए खड़े पिताजी की तस्वीर का काँच कागज़-पानी से साफ़ कर दिया, पंखे की पंखुरियों पर से गरदा हटाकर उन्हें गीले कपड़े से चमका दिया और दीवारघड़ी पर जड़ी पीतल की पट्टियों को ब्रासों से रगड़कर चमचमा दिया। अब सब कुछ एकदम नया-जैसा लग रहा था। बीच में एक बार माँ ने आकर मेरी हरकतों को देखा

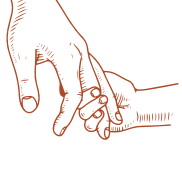

और देखकर चुपचाप अपने कमरे में चली गई। अंत में मैंने कबाड़े से एक गुलदान निकाला, उसे साफ़ किया और उसमें पानी भरकर बाहर से कुछ ताज़े फूल तोड़ लाया, फूलों को गुलदान में सजाया और गुलदान को दीवान के पास वाली छोटी मेज़ पर सजा दिया।

पिताजी खुश हो जाएँगे।

पिताजी आए। उन्हें जैसे अपने कमरे में बेचैनी-सी महसूस हुई। चमकदार चीज़ों से चौंध-सी लगी। कुछ देर खामोशी से एक-एक कर सारी चीज़ें ध्यान से देखते रहे। किसी से कुछ बोले-चाले नहीं। चुपचाप कपड़े बदले, चाय पी और पीठ पर हाथ बाँधे आधा घंटा कमरे में इधर-उधर चक्कर लगाते रहे। बीच में एक बार अखबार उठाया, पढ़ना चालू किया, फिर रख दिया और फिर चक्कर लगाने लगे। भीतर आकर माँ से पूछा, राकेश कहाँ है? पता नहीं माँ ने क्या जवाब दिया। आखिर उनसे रहा नहीं गया। बाहर का दरवाज़ा खोला। कमरे में आए। गुलदान उठाकर बाहर ले गए, फूल निकालकर गली में फेंके, गुलदान उलटकर पानी खाली किया, दो-तीन बार उसे झटका और भीतर आकर गुलदान को कबाड़े की कोठरी में झन्न से फेंक दिया।

मैं कौन होता था उन्हें बताने वाला कि उन्हें कैसे जीना चाहिए? और जबकि वह मुझे नहीं बता रहे थे! पर तब इतना समझने की उम्र नहीं थी। इस 'झल' से मैं ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। बाज़ नहीं आया। पुनर्विचार की मुद्रा में नहीं आया। पल्ला झाड़ने पर राज़ी नहीं हुआ। मेरी तथाकथित सुरुचि तो पूरे घर को चपेट में लेने को कसमसा रही थी। मैं पिताजी की 'सुविधा' का विस्तार करने में अपनी सक्रिय भूमिका तलाश कर रहा था। आखिर कुछ तो होगा जिससे वह खुश हो सकते हों, जिससे उन्हें परेशानी भी न हो और घर मकड़ी के कदीम जाले जैसा दिखना भी बंद कर दे!

एक दिन मेरे ध्यान में आया की हमारे पूरे घर में एक भी कैलेंडर नहीं है! सिवाय उस आयुर्वेद कंपनी के तिथियों वाले कैलेंडर के जो अगरबत्ती के पैकेट के साथ मुफ्त आया था और जिसे माँ ने अपनी रसोई में एक कोने में टाँग रखा है और जिसके ऊपर थैलियाँ भी टँगी रहती हैं। पड़वा-पूनम, तीज-तेरस देखना हो तो थैलियाँ हटाकर देख लों!

इस बोध ने मुझे चंचल कर दिया और मैं बाज़ार से एक कैलेंडर खरीद लाया। काफी बड़ा और भव्य। उसे ड्राइंगरूम में टँगना था, इसीलिए पिताजी की रुचि के अनुकूल होना था, इसीलिए उसमें देवी-देवताओं का होना अनिवार्य था। इसीलिए जो कैलेंडर मैंने खरीदा उसमें शंकर-पार्वती, गणेश-कार्तिकेय और नंदी हिमालय की पृष्ठभूमि में प्रसन्नवदन दिखाए गए थे। यह एक पेंटिंग थी, जिसमें मेरी समझ से शंकर-परिवार काफी कलात्मकता से चित्रित था।

कैलेंडर बैठक में टाँग दिया गया। घुसते ही उस पर नज़र पड़ती और मन में प्रशंसा का भाव आता।

और उस कैलेंडर का क्या हश्र हुआ? पूरे तीन दिन वह वहाँ टँगा रहा। और चौथे दिन पिताजी ने उसे चिंदी-चिंदी करके उसे बाहर फेंक दिया। चिल्लाकर बोले, "उससे कहना ये सब अपने घर में करे।"

जबकि माँ कह चुकी थी, आपको नहीं पसंद हो तो लाइए मैं रसोई में टाँग लेती हूँ! फाड़िए मत। भगवान की तस्वीर है। वह इतने शौक से लाया है।

आजकल माँ-पिताजी आए हुए हैं। मेरे पास चार कमरों का शानदार सरकारी क्वार्टर है। बेडरूम के साथ लेटरीन, बाथरूम अटैच हैं। कमोड पश्चिमी तरीके का है। डबल बेड पर कॉयरफोम के गद्दे हैं। उसमें माँ-पिताजी आराम से होंगे।

कहाँ जाएँ? दोनों बहुत अशक्त हो गए हैं। खाना खाने डाइनिंगरूम में आते हैं, टी.वी. देखने ड्राइंगरूम में। थोड़ा शाम को बाहर बगीचे में निकले तो निकले, वरना वापस अपने कमरे में। मेरी पत्नी उन दोनों का पूरा ध्यान रखती है।

मेरा घर शायद उन्हें सारी सुविधाओं के बावजूद पसंद न आता हो। बात-बात में मैं बच्चों से सलाह लेता हूँ। न भी लूँ, वह स्वयं देते हैं। कोई मुरव्वत नहीं करते, "पापा, आप ये नीली शर्ट मत पहना करो, आप पर बिल्कुल सूट नहीं करती। आप टीशर्ट क्यों नहीं पहनते?" या "मम्मी, देखो न पापा ने आज फिर सिर में कितना सारा तेल थोप लिया।"

हम सब एक-दूसरे की बातें शेयर करते हैं और एक-दूसरे को बिन माँगे सलाह देते हैं। एक-दूसरे की मूर्खताओं पर खुलकर हँसते हैं। माता-पिता के देवतुल्य होने का मिथ ध्वस्त हो चुका है। सब इंसान हैं। सबसे गलतियाँ हो सकती हैं।

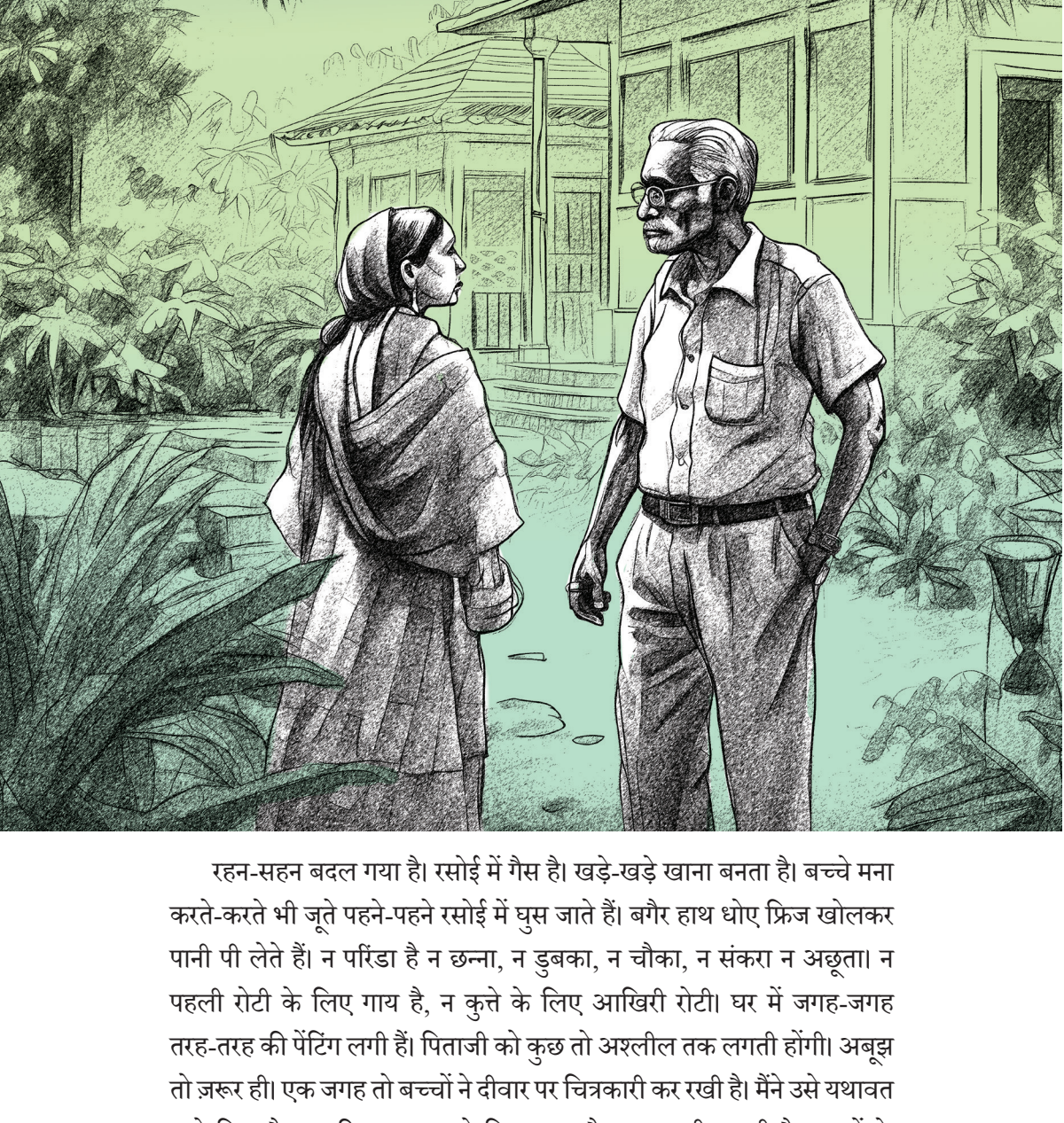

रहन-सहन बदल गया है। रसोई में गैस है। खड़े-खड़े खाना बनता है। बच्चे मना करते-करते भी जूते पहने-पहने रसोई में घुस जाते हैं। बगैर हाथ धोए फ्रिज खोलकर पानी पी लेते हैं। न परिंडा है न छन्ना, न डुबका, न चौका, न संकरा न अछूता। न पहली रोटी के लिए गाय है, न कुत्ते के लिए आखिरी रोटी। घर में जगह-जगह तरह-तरह की पेंटिंग लगी हैं। पिताजी को कुछ तो अश्लील तक लगती होंगी। अबूझ तो ज़रूर ही। एक जगह तो बच्चों ने दीवार पर चित्रकारी कर रखी है। मैंने उसे यथावत रहने दिया है। उसकी सरलता मुझे विलक्षण और रहस्यमयी लगती है। बच्चों के

कमरे में तरह-तरह के पोस्टर लगे हैं। एक पर लिखा है, "इस कमरे में घुसो तो अपनी जोखिम पर... और मेहरबानी करके सफ़ाई करने की कोशिश मत करना।" उनकी यही जीवन-शैली है उन्हें अभी से मालूम है कि ज़िंदगी में उन्हें क्या करना है। उसी में डटकर जुटे रहते हैं। थोड़ी भी फुर्सत पाते हैं तो ऊँची आवाज़ में टेप बजाकर डांस करते हैं। मौज आती है तो उनके साथ हम भी।

माँ हँसती है। उसे कौतुक होता है। जैसे उसका बचपन लौट आता है। वह मेरे घर प्रसन्न रहती है। सदा की चुप रहने वाली माँ अपनी बहू से दुनिया-ज़माने की बातें करती है। उसे सलाह देती है कि बाल कटा ले। चोटी-पट्टी का झंझट क्यों? कहती है कि सलवार-कुर्ता पहन, जैसे आहूजा की बहू पहनती है। कहती है, मुझे एक दिन बाज़ार ले चल, मैं तुझे कलौंजी, सीकाकाई, मुरदासिंगी, मुलतानी मिट्टी, मेहंदी, आँवला, हल्दी वगैरह दिलवा दूँगी। निखर उठेगी। माँ अपने सारे राख जीवन में ध्वस्त पड़ी चिंगारी बहू में जगाने की कोशिश कर रही है। वह बच्चों से भी बहुत लाड़ करती है। बच्चे उसकी बाँह की, गाल की झुर्रियाँ गिनते हैं, उसके बालों में बादाम के तेल की मालिश करते हैं और उसे कहानियाँ सुनाते हैं। ड्रेकुला और डायनासोर और फेंटम आदि की। माँ शौक से सुनती है। स्त्री की देह को कितनी सदियों तक हमने जागने नहीं दिया, और आत्मा को भी थपकियाँ ही देते रहे। माँ स्त्री के पश्चात्ताप का शिलालेख नहीं... सोलह सौ मीटर की दौड़ का लास्ट लैप है।

पिताजी लेकिन नहीं बदले। संवादहीनता किसी तरह नहीं टूटती। पानी भी चाहिए तो माँ को आवाज़ लगाते हैं। बच्चों से उनके मन में कुछ नहीं खिलता। क्या मेरे बच्चों को देखकर उन्हें मेरा बचपन याद नहीं आता होगा? याद नहीं आता कभी उन्होंने मुझे हवा में उछाला हो या कंधे पर बैठाया हो। अपने ही बच्चों से लाड़ करना उन दिनों घटिया हरकत मानी जाती थी। गुमसुम ड्राइंगरूम में बैठे रहते हैं। मेरे कोई मिलने वाले आ गए तो चुपचाप उठकर धीरे-धीरे अपने कमरे में चले जाते हैं। कभी-कभी अपने ही हाथों से अपने पैर दबाते हैं। उन्हें मेरी शेविंग क्रीम पसंद नहीं, दाढ़ी के साबुन की गोल बट्टी ही ठीक लगती है। मैं चाहता हूँ और कुछ नहीं तो हम राजनीति पर ही बात करें। होता लेकिन यह है कि तबीयत कैसी है? ठीक है। दवा ली? हाँ। फिर लानी है? नहीं। बाज़ार जा रहा हूँ, कुछ लाऊँ? अपनी माँ से पूछ लो।

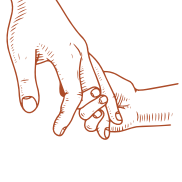

बार-बार लगता है कि पिता खुश नहीं हैं; क्योंकि यह उनका घर नहीं, मेरा घर है। लेकिन घर या समय?

संवाद

1. आप किस तरह की अपनी ज़रूरतों, इच्छाओं को सीधे अपने पिता से कह पाते हैं और किस तरह की, माँ या घर के किसी दूसरे सदस्य के माध्यम से पहुँचाते है? दूसरों के माध्यम से कहलवाने का कारण भी लिखिए।
2. लेखक अपने घर के माहौल की तुलना अपने दोस्तों के घर के माहौल से करता है। आप किन-किन संदर्भों में अपने घर के माहौल की तुलना अपने मित्रों के घर से करते हैं?

पिता

— उदय प्रकाश

उदय प्रकाश की कविता के 'पिता' में बहुत से पिता शामिल हैं। कवि उन्हें हर निर्मित चीज़ में देखता है। वह खेत, कुदाल, बैल, इमारत, ईंट, दरवाज़े, बाज़ार सब तरफ़ उनके हाथों के निशान पाता है। एक दिन कवि देखता है कि पिता गायब हो गए हैं और उनके श्रम से चलनेवाली तमाम चीज़ें उन्हें पचा गई हैं। पर साथ ही कवि यह भी महसूस करता है कि उर्वर ज़मीन के नीचे की नम परत में पिता मौजूद हैं ठीक वैसे ही जैसे आँखों में आँसू। कठिन क्षणों में साथ देने के लिए। पिता नम सोते की तरह कवि के साथ है।

पिता
झाड़-झंखाड़, घाटियों और पत्थरों से भरे
चटियल मैदान थे।
पिता
सागौन, शीशम, बबूल, तेंदुओं और हिरनों से भरे
बीहड़ थे।

बचपन में अक्सर
किसी ऊँचे टीले पर चढ़कर
मैं आस-पास के गाँवों में
ललकार दिया करता था।

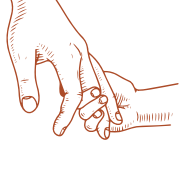

नाके के पार
शहर तक में
पिता का रौब था।
एक-एक इमारत पर
उनकी कन्नियाँ सरकी थीं।
एक-एक दीवार पर,
उनकी उँगलियों के निशान थे।
हर दरवाज़े के काठ पर
उनका रंदा चला था।

नाके के इस पार
जहाँ से
गाँव की वीरानगी शुरू होती है
हर खेत की कठोर छाती पर
पिता अपनी कुदाल
धँसा गए थे।
हल की हर मूठ पर
उनकी घट्टेदार हथेलियों की छाप थी।
हर गरियार बैल के पुट्ठों पर
उनके डंडे के दाग थे...
बचपन में
पिता के कंधे पर बैठकर
मैं बाज़ार घूमने जाता था।

पिता पहाड़ की तरह
चलते भीड़ के बीच
उनके कंधे पर मैं
जंगली तोते की तरह बैठा रहता।

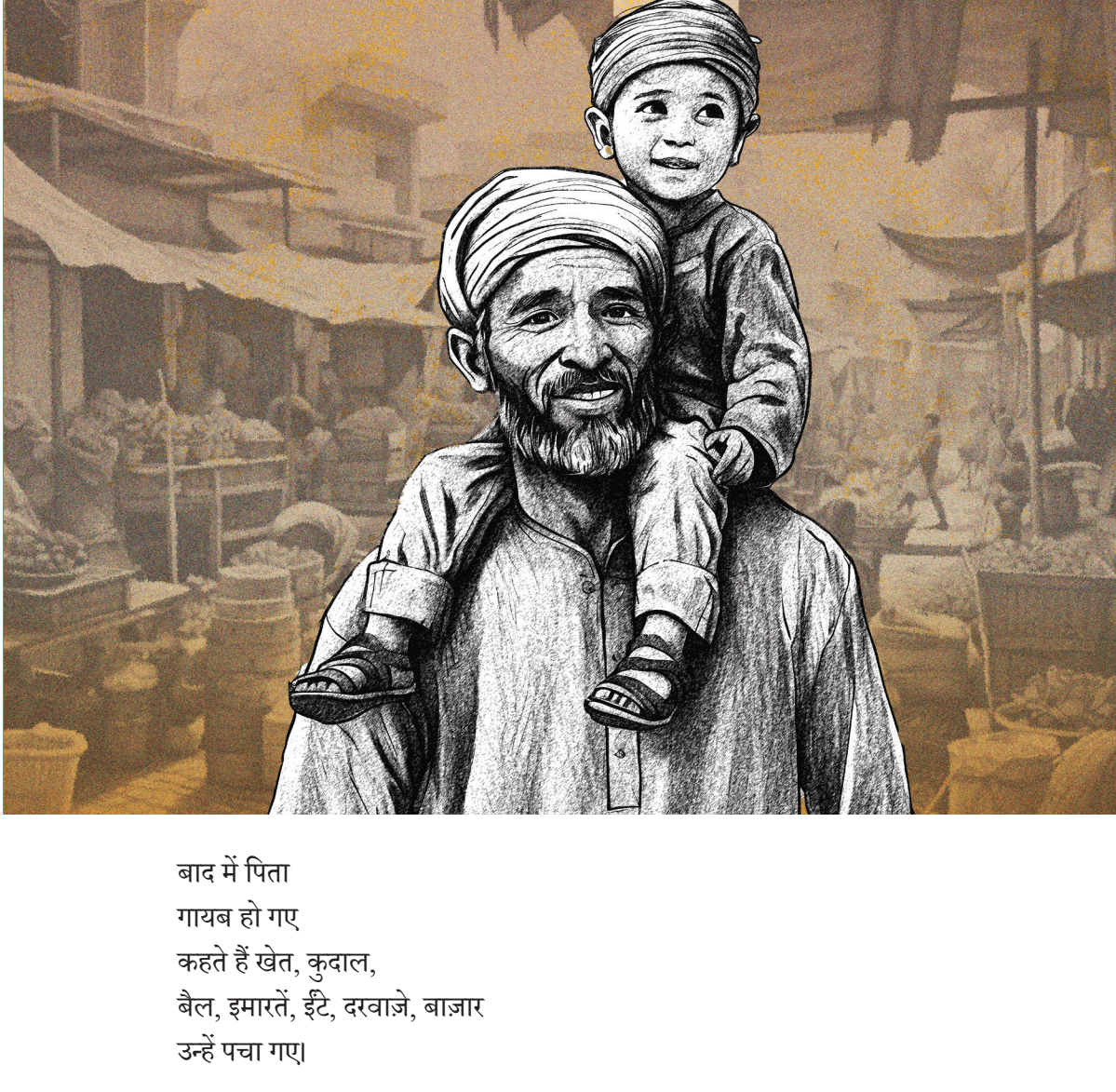

बाद में पिता
गायब हो गए
कहते हैं खेत, कुदाल,
बैल, इमारतें, ईंटे, दरवाज़े, बाज़ार
उन्हें पचा गए।

मुझे लगता है
उस चटियल मैदान

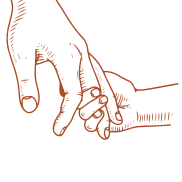

के भीतर (जो पिता थे)
ज़मीन की दूसरी-तीसरी परतों में
सरकता हुआ कोई
नम सोता भी था।
जो मेहनत करते
पिता की देह के अलावा
कभी-कभी मेरी आँखों से भी
रिसने लगता था।

संवाद

1. किसी मनुष्य को खेत, कुदाल या बाज़ार कैसे पचा जाता है? क्यों?
2. आपको अपने पिता की सबसे अच्छी बात क्या लगती है?

पिता और उनके पिता

— नवल शुक्ल

नवल शुक्ल इस कविता में अपने पिता के हवाले से उनके पिता के बारे में बताता है कि उनके संबंध गाँव-गाँव के लोगों से थे। वे सैकड़ों लोगों के सैकड़ों संबंधियों की जानकारी अपनी जुबान पर रखते थे। कवि अपने पिता के बारे में बताता है कि उन्होंने बहुत कुछ किया, अपने बड़े परिवार को संभाला, बहुत कुछ सुना और सहा। जब कवि अपने बारे में बताने लगता है तो कहता है "मैं अपने पिता और उनके पिता के बारे में जानने के बाद अपने बारे में सोचता हूँ और ठहर जाता हूँ।" आत्मस्वीकृति की तरह यह बात निकलकर आती है कि तीसरी पीढ़ी के पिता की दुनिया और छोटी हो गई है।

मेरे पिता अपने पिता के बारे में
हमें बताएँगे कि
उन्होंने लंबी उम्र पाई
सभी लोगों की तरह वे
पहनते थे धोती-कुर्त्ता
बाँधते थे पगड़ी
पहनावे में खास बात थी
नेहरू जैकेट
और गाँधी टोपी
जो पहनते थे कभी-कभी

पर अक्सर उसकी खिल्ली उड़ाते थे
और अपने आखिरी समय तक
उन्हें साफ़-सुथरा खूँटी पर टाँग रखा था उन्होंने।

अपने पिता के बारे में बताते समय
चमक उठेंगी मेरे पिता की आँखें

वे बिना थके बताएँगे
अपने पिता के बारे में
कि मेरे पिता बिना थके
दो मन अनाज लिए
सात किलोमीटर दूर, बाज़ार के दिन
चले जाते थे
बीच में एक बार भी नहीं सुस्ताते थे
बतियाते रहते थे रास्ते भर
गाँव-गाँव के लोगों से

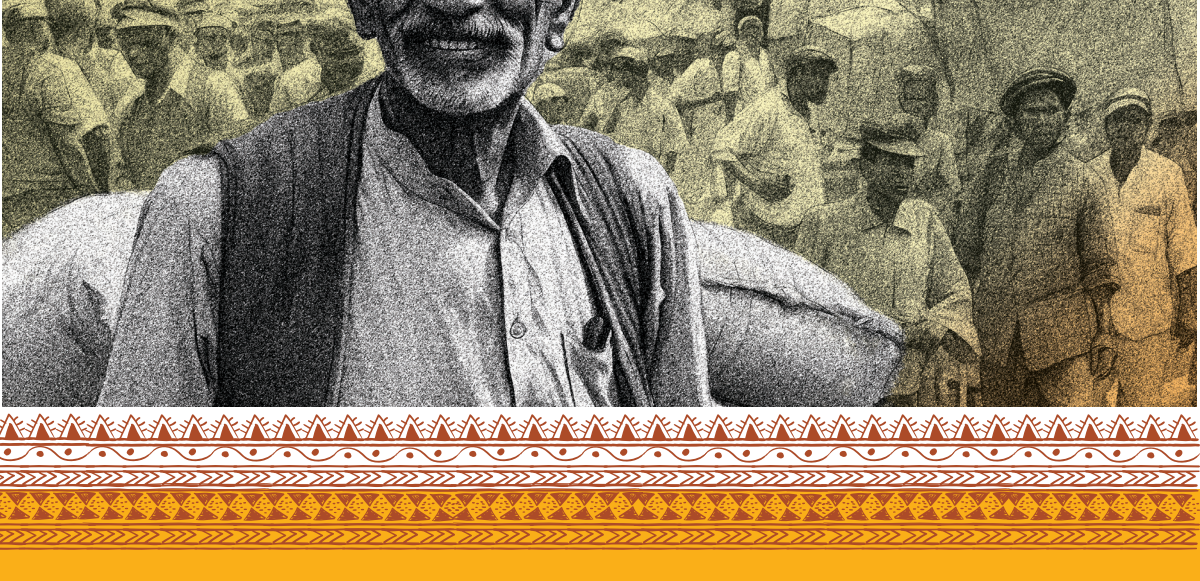

वे सैकड़ों लोगों के सैकड़ों संबंधियों की जानकारी
रखते थे जुबान पर।
मेरे पिता अपने पिता के बारे में बताएँगे
तो बताते चले जाएँगे।
और कहेंगे, अब क्या-क्या बताएँ।

मैं अपने पिता के बारे में बताऊँगा
तो कहूँगा, उन्होंने बहुत-कुछ किया
थोड़े में, बड़े परिवार को संभाला
नियमित सुना समाचार
और नियमित रहे हमेशा
भला ही भला सोचा हमेशा
सुना, सहा सभी का
किसी का अहित नहीं किया।

मैं अपने पिता
और उनके पिता के बारे में
जानने के बाद
अपने बारे में सोचता हूँ
और ठहर जाता हूँ।

संवाद

1. आपने किसी बुजुर्ग से उनके बुजुर्गों के बारे में बातें सुनी हैं? हाँ तो क्या?
2. कवि अपने पिता और दादा के बारे में जानकर ठहर क्यों जाता है?

यात्रा करते पिता

— नीलेश रघुवंशी

नीलेश रघुवंशी की इस कविता में यात्रा कर रहे पिता सहयात्रियों से संवेदनशील व्यवहार की अपेक्षा करते हैं जिसमें उन्हें निराशा हाथ लगती है। कविता बहुत सहज शब्दों में जीवन की सच्चाई का विवरण प्रस्तुत करती है। कविता बताती है कि यह यात्रा सिर्फ़ रेल तक सीमित नहीं है बल्कि जीवनरूपी यात्रा ही यहाँ आई है।

पहुँच जाते हैं पिता प्लेटफार्म पर
गाड़ी आने से आधा घंटा पहले।
रखते हैं अंदर की जेब में टिकिट
खड़े हो जाते हैं चुपचाप ट्रेन में
जगह मिलने की प्रतीक्षा या कोशिश
कभी नहीं करते पिता।

उम्र के इस पड़ाव में
भला पिता क्या सारी दूरी खड़े-खड़े जाएँगे।
झुकते घुटने और सामान पकड़े पिता
क्या कोई जगह देगा?
सीट खाली होगी किसी स्टेशन पर
बैठने की सोचेंगे पिता

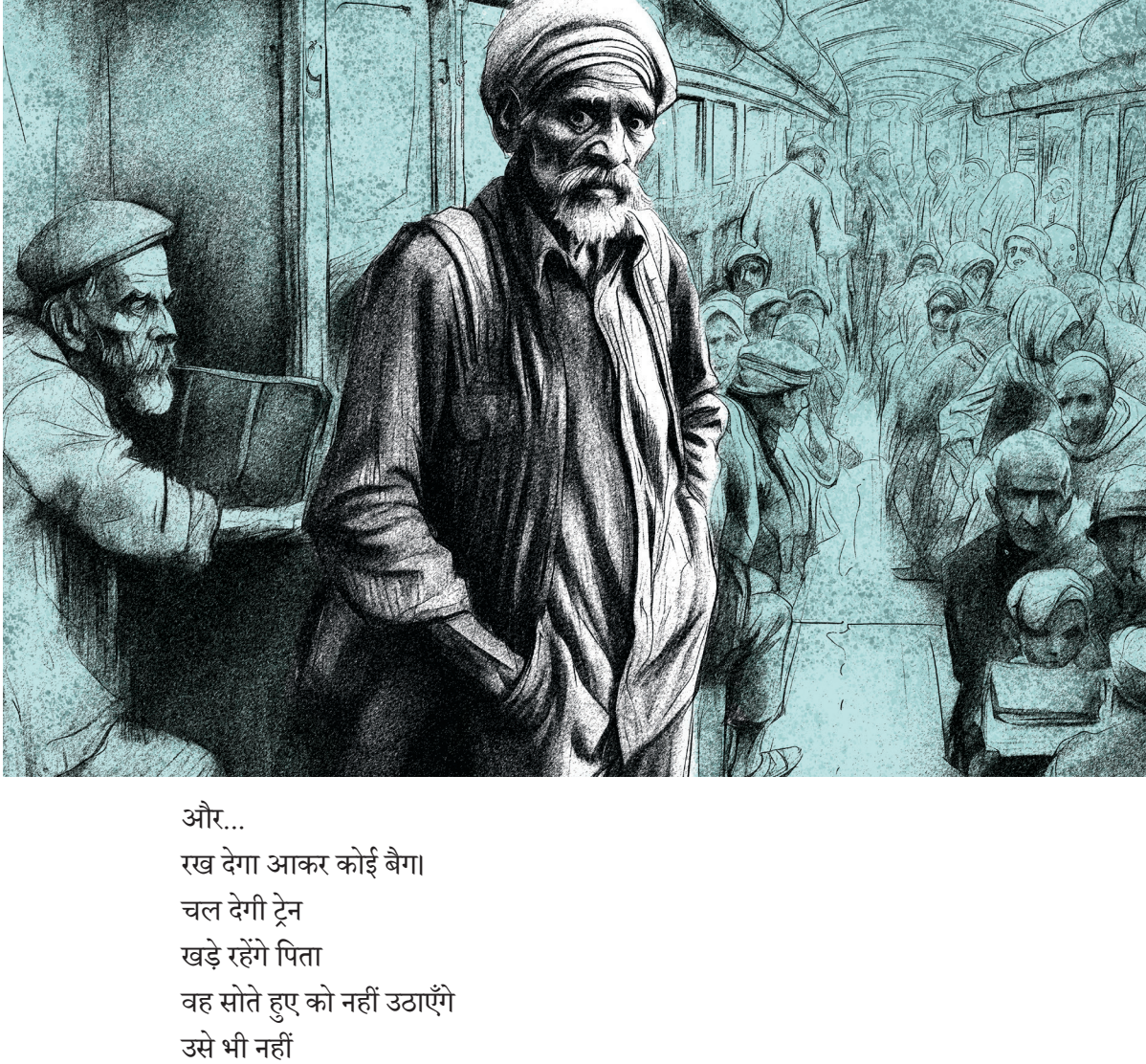

और...
रख देगा आकर कोई बैग।
चल देगी ट्रेन
खड़े रहेंगे पिता
वह सोते हुए को नहीं उठाएँगे
उसे भी नहीं
घेरकर बैठा है जो बेमतलब दो आदमियों की जगह।
थके हारे पिता
पहुँचते हैं घर!
यात्रा की अनायास थकान

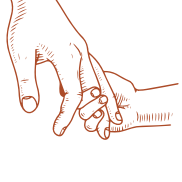

और
दूसरे शहर जाने की तकलीफ भाँपती है माँ।
माँ पिता की यात्रा जानती है
इसीलिए कभी नहीं पूछती
कैसा रहा सफ़र।

संवाद

1. 'माँ पिता की यात्रा जानती है।' क्यों?
2. आपने पिता के साथ कई बार यात्रा की होगी। यात्रा में आपको अपने पिता कैसे लगते हैं?

लेखकों के बारे में

नागार्जुन

जन्म– 1911

आधुनिक हिंदी कविता के प्रमुख कवि और कथाकार नागार्जुन का जन्म बिहार के दरभंगा ज़िले के तरउनी गाँव में हुआ था। उनका मूल नाम वैद्यनाथ मिश्र था। उन्होंने मैथिली और हिंदी के अतिरिक्त बांग्ला, संस्कृत, प्राकृत और पाली जैसी प्राचीन भारतीय भाषाओं पर स्वाध्याय से अधिकार प्राप्त किया।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में युगधारा, सतरंगे पंखों वाली, हज़ार-हज़ार बाँहों वाली, तुमने कहा था, पुरानी जूतियों का कोरस, आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने, मैं मिलटरी का बूढ़ा घोड़ा आदि उल्लेखनीय हैं। नागार्जुन ने उपन्यास और अन्य गद्य विधाओं में भी लेखन किया है। उनका संपूर्ण कृतित्व नागार्जुन रचनावली के सात खंडों में प्रकाशित है।

प्रमुख सम्मान– इन्हें हिंदी अकादमी दिल्ली का शिखर सम्मान, उत्तर प्रदेश का भारत भारती पुरस्कार एवं बिहार का राजेंद्र प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित किया गया। मैथिली भाषा में कविता के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया।

निधन– 1998

भीष्म साहनी

जन्म– 1915

भीष्म साहनी का जन्म रावलपिंडी (अब पाकिस्तान) में हुआ। भीष्म साहनी का यथार्थ बोध उन्हें विशेष बनाता है और भारत विभाजन का दंश उनकी रचनाओं में स्पष्ट नज़र आता है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख कृतियों में भाग्यरेखा, पहला पाठ, भटकती राख, पटरियाँ, वाड्चू, शोभायात्रा, निशाचर, पाली, डायन (कहानी-संग्रह); झरोखे, कड़ियाँ, तमस, बसंती, मय्यादास की माड़ी, कुंतो, नीलू नीलिमा नीलोफर (उपन्यास); माधवी, हानूश, कबिरा खड़ा बाज़ार में, मुआवज़े (नाटक); आज के अतीत (आत्मकथा); और गुलेल का खेल (बालोपयोगी कहानियाँ) आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार, लेखक अवार्ड, लोटस अवार्ड, सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड तथा पद्मभूषण अलंकरण से विभूषित किया गया।

निधन– 2003

उषा प्रियंवदा

जन्म– 1930

उषा प्रियंवदा का जन्म कानपुर में हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. तथा पीएच.डी. तक की पढ़ाई की। इन्होंने तीन साल भारत में अध्यापन के बाद फुलब्राइट स्कॉलरशिप पर अमेरिका प्रस्थान किया। इन्होंने विस्कांसिन विश्वविद्यालय मैडीसन से प्रोफेसर के पद से अवकाश प्राप्त किया। हिंदी कथा-साहित्य के क्षेत्र में उषा प्रियंवदा का नाम अपनी आधुनिक मानव की विचित्र मनोदशा तथा उसके तनावों में अद्भुत चित्रण के कारण उल्लेखनीय है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में पचपन खंभे लाल दीवारें, रुकोगी नहीं राधिका, शेष यात्रा, अंतर्वंशी, भया कबीर उदास (उपन्यास); ज़िंदगी और गुलाब के फूल, प्रतिध्वनियाँ, एक कोई दूसरा, मेरी प्रिय कहानियाँ, संपूर्ण कहानियाँ, शून्य (कहानी संग्रह); और अन्य रचनाएँ शामिल हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें वर्ष 2007 में केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा पद्म भूषण डॉ.मोटूरि सत्यनारायण पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

केदारनाथ सिंह

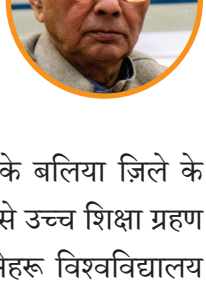

जन्म– 1934

हिंदी के साहित्यकार केदारनाथ सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले के चकिया गाँव में हुआ था। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा ग्रहण की। उन्होंने कुछ साल पड़रौना और बाद में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। केदारनाथ सिंह तरल मानवीय संवेदनाओं के कवि हैं। उनकी कविताओं में रोज़मर्रा के जीवन के अनुभव परिचित बिंबों में बदलते दिखाई देते हैं।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख कृतियों में ज़मीन पक रही है, यहाँ से देखो, उत्तर कबीर, बाघ, टालस्टॉय और साइकिल, सृष्टि पर पहरा (कविता संग्रह); कल्पना और छायावाद, आधुनिक हिंदी कविता में बिंबविधान, मेरे समय के शब्द, कब्रिस्तान में पंचायत (गद्य पुस्तकें) आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार, व्यास सम्मान, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, भारत-भारती सम्मान, दिनकर सम्मान और ज्ञानपीठ सम्मान से विभूषित किया गया।

निधन– 2018

हिमांशु जोशी

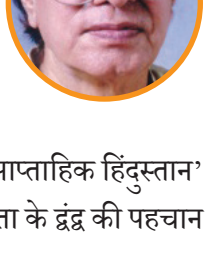

जन्म– 1935

हिंदी कथाकार हिमांशु जोशी का जन्म उत्तराखंड में हुआ। ये 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में कार्यरत रहे। पहाड़ के पारंपरिक जीवन और आधुनिक सभ्यता के द्वंद्व की पहचान जोशी के लेखन की विशेषता है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में बुरांश तो फूल है, कगार की आग, अरण्य, महासागर, तुम्हारे लिए, छाया मत छूना मन, सु-राज, समय साक्षी है (उपन्यास); अंतत:, रथचक्र, नंगे पाँवों के निशान, मनुष्य-चिह्न, सागर तट के शहर, जलते हुए डैने, इस बार फिर बर्फ गिरी तो (कहानी संग्रह); नील नदी का वृक्ष, अग्निसंभव। (कविता संग्रह); और यात्राएँ, सूरज चमके आधी रात (यात्रा-वृत्तांत) आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें 'उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान', 'हिंदी अकादमी दिल्ली', 'राजभाषा विभाग बिहार', 'केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा' आदि संस्थानों से सम्मानित किया गया।

निधन– 2018

सुभाष पंत

जन्म– 1939

सुविख्यात कथाकार सुभाष पंत का जन्म उत्तराखंड के देहरादून में हुआ। उन्हें पहाड़ के जीवन के विविध पक्षों का आत्मीय चित्रण करने वाला कुशल कथाकार माना जाता है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में तपती हुई ज़मीन, चीफ़ के बाप की मौत, इक्कीस कहानियाँ, जिन्न, अन्य कहानियाँ, मुन्नीबाई की प्रार्थना, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, एक का पहाड़ा, छोटा होता हुआ आदमी (कहानी संग्रह); सुबह का भूला, पहाड़चोर (उपन्यास); और चिड़िया की आँख (नाटक) आदि सम्मिलित हैं।

लीलाधर जगूड़ी

जन्म– 1940

हिंदी के प्रसिद्ध कवि लीलाधर जगूड़ी का जन्म धंगड़, ज़िला टिहरी-गढ़वाल उत्तराखंड में हुआ था। वाराणसी से बी.ए. की शिक्षा प्राप्त कर वे कुछ समय तक शिक्षक रहे और फिर उत्तरप्रदेश सूचना विभाग में अधिकारी रहे। जगूड़ी की कविताएँ जीवन की व्यथा के अनुभवों को वाणी प्रदान करती हैं। उनकी कविताओं में अकथित और अज्ञात के भी अनुभव मिल जाते हैं।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख कृतियों में शंखमुखी शिखरों पर, नाटक जारी है, इस यात्रा में, रात अब भी मौजूद है, बची हुई पृथ्वी, घबराए हुए शब्द, भय भी शक्ति देता है, अनुभव के आकाश में चाँद, महाकाव्य के बिना, ईश्वर की अध्यक्षता में, खबर का मुँह विज्ञापन से ढँका है, जितने लोग उतने प्रेम (कविता संग्रह); पाँच बेटे (नाटक); और रचना प्रक्रिया से जूझते हुए (निबंध संग्रह) आदि उल्लेखनीय है।

प्रमुख सम्मान– इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार, पद्म श्री सम्मान, रघुवीर सहाय सम्मान, नमित पुरस्कार, आकाशवाणी पुरस्कार और व्यास सम्मान आदि से सम्मानित किया गया।

राजेश जोशी

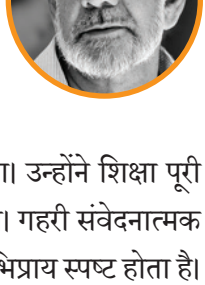

जन्म– 1946

राजेश जोशी का जन्म मध्य प्रदेश के नरसिंहगढ़ ज़िले में हुआ। उन्होंने शिक्षा पूरी करने के बाद पत्रकारिता और कुछ सालों तक अध्यापन किया। गहरी संवेदनात्मक दृष्टि से परिपूर्ण राजेश जोशी की कविताओं का सामाजिक अभिप्राय स्पष्ट होता है। उनके काव्यलोक में आत्मीयता और लयात्मकता है तथा मनुष्यता को बचाए रखने का एक निरंतर संघर्ष भी है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में एक दिन बोलेंगे पेड़, मिट्टी का चेहरा, नेपथ्य में हँसी, दो पंक्तियों के बीच, चाँद की वर्तनी, जिद, उल्लंघन (कविता संग्रह); सोमवार और अन्य कहानियाँ (कहानी संग्रह); जादू जंगल, अच्छे आदमी, टंकारा का गाना (नाटक); और एक कवि की नोटबुक (निबंध आलोचना) आदि शामिल हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें शमशेर सम्मान, पहल सम्मान, मध्य प्रदेश सरकार का शिखर सम्मान, माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार और साहित्य अकादमी पुरस्कार आदि से विभूषित किया गया।

स्वयं प्रकाश

जन्म– 1947

हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश का जन्म मध्य प्रदेश के इंदौर में हुआ था। आप हिंदुस्तान जिंक लिमिटेड में अधिकारी रहे। स्वयं प्रकाश की कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन का कुशल चित्रण और वर्ग-शोषण के विरुद्ध चेतना स्पष्ट दिखाई देती है। रोचक किस्सागोई शैली में लिखी गईं स्वयं प्रकाश की कहानियाँ हिंदी की वाचिक परंपरा को समृद्ध करती हैं।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख कृतियों में मात्रा और भार, सूरज कब निकलेगा, आसमाँ कैसे-कैसे, अगली किताब, आएँगे अच्छे दिन भी, आदमी जात का आदमी, अगले जनम, संधान, छोटू उस्ताद (कहानी संग्रह); प्यारे भाई रामसहाय, सप्पू के दोस्त, परमाणु भाई की दुनिया में (बाल साहित्य); उपन्यास, नाटक, निबंध और रेखाचित्र भी शामिल हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें राजस्थान साहित्य अकादमी पुरस्कार, वनमाली सम्मान, सुभद्राकुमारी चौहान पुरस्कार, पहल सम्मान, कथाक्रम सम्मान, भवभूति अलंकरण, साहित्य अकादमी का बाल साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

निधन– 2019

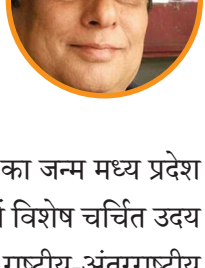

उदय प्रकाश

जन्म– 1952

हिंदी के चर्चित कवि, कथाकार और फिल्मकार उदय प्रकाश का जन्म मध्य प्रदेश के शहडोल ज़िले के सीतापुर गाँव में हुआ। कथाकार के रूप में विशेष चर्चित उदय प्रकाश अपनी पीढ़ी के समर्थतम कवियों में से हैं। लगभग सभी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय कविता संकलनों में उनकी कविताएँ संकलित हैं।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में सुनो कारीगर, अबूतर कबूतर, रात में हारमोनियम (कविता संग्रह); दरियाई घोड़ा, तिरिछ, और अंत में प्रार्थना तथा पॉलगोमरा का स्कूटर (कहानी संग्रह); ईश्वर की आँख (निबंध और आलोचना संग्रह); पीली छतरीवाली लड़की (लंबी कहानी); इंदिरा गांधी की आखिरी लड़ाई, कला अनुभव, लाल घास पर नीले घोड़े (अनुवाद) आदि महत्वपूर्ण हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार से सम्मानित, ओम प्रकाश सम्मान, श्रीकांत वर्मा पुरस्कार, मुक्तिबोध सम्मान, साहित्यकार सम्मान और साहित्य अकादमी पुरस्कार से विभूषित किया गया।

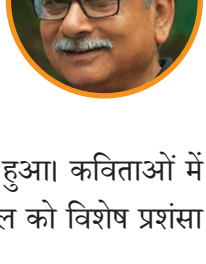

नवल शुक्ल

जन्म–1958

सुपरिचित कवि नवल शुक्ल का जन्म पलामू (झारखंड) में हुआ। कविताओं में संवेदनात्मक अनुभूतियों के सहज अंकन के लिए नवल शुक्ल को विशेष प्रशंसा मिली है।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख रचनाओं में दसों दिशाओं में, इस तरह एक अध्याय (कविता संग्रह); नदी का पानी तुम्हारा है, बच्चा अभी दोस्त के साथ उड़ रहा है (बाल कविता संग्रह); कविता में मध्य प्रदेश, राजा पेमल शाह (नाटक) आदि उल्लेखनीय है।

प्रमुख सम्मान– इन्हें पहले कविता-संग्रह के लिए रामविलास शर्मा सम्मान से विभूषित किया गया।

नीलेश रघुवंशी

जन्म–1969

हिंदी की चर्चित कवयित्री नीलेश नीलेश का जन्म गंज बासौदा, मध्य प्रदेश में हुआ। उन्होंने हिंदी साहित्य में एम.ए. और भाषाविज्ञान में एम.फिल. की उपाधि प्राप्त की।

प्रमुख रचनाएँ– इनकी प्रमुख कृतियों में कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएँ), घर निकासी, पानी का स्वाद, अंतिम पंक्ति में, (कविता संग्रह); खिड़की खुलने के बाद, एक कस्बे के नोट्स 'शहर से दस किलोमीटर'(उपन्यास) आदि सम्मिलित हैं।

प्रमुख सम्मान– इन्हें भारत भूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार, केदार सम्मान, भारतीय भाषा परिषद् कोलकाता का युवा लेखन पुरस्कार और डी.डी. अवार्ड से सम्मानित किया गया।

टिप्पणी

टिप्पणी

'पढ़ें और बढ़ें' शृंखला की कुछ अन्य पुस्तकें

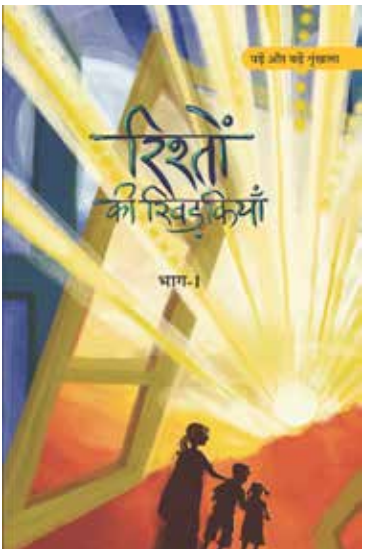

रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग - 1
मूल्य – ₹ 110.00
कोड – 21190
ISBN – 978-93-5292-890-3

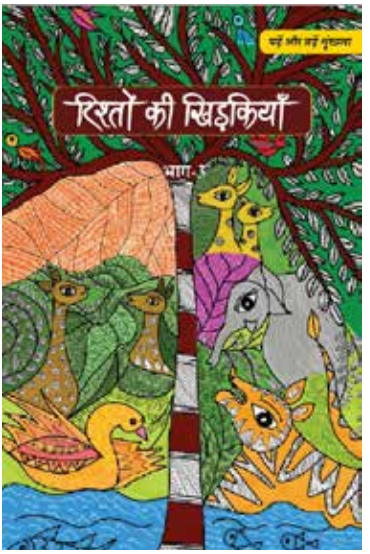

रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग - 3
मूल्य – ₹ 145.00
कोड – 21192
ISBN – 978-93-5292-813-2

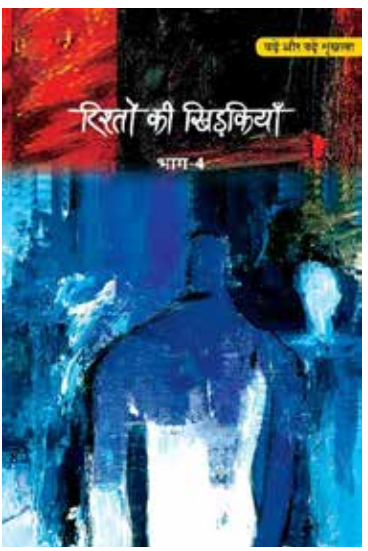

रिश्तों की खिड़कियाँ, भाग - 4
मूल्य – ₹ 155
कोड – 21193
ISBN – 978-93-5292-641-1

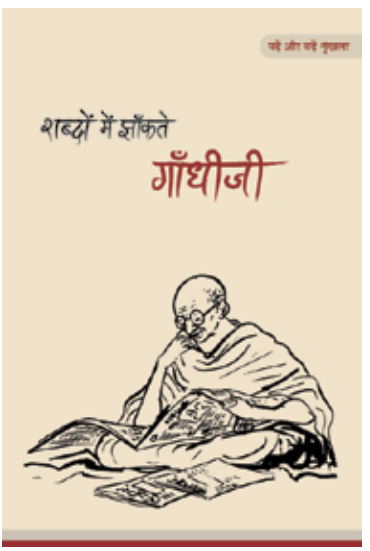

शब्दों में झाँकते गाँधीजी
मूल्य – ₹ 110.00
कोड – 21194
ISBN – 978-93-5292-821-7

अधिक जानकारी के लिए कृपया www.ncert.nic.in देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पतों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।

21191

विद्यया ऽमृतमश्नुते

एन सी ई आर टी
NCERT

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

ISBN 978-93-5292-866-8